भूल जायँ। अतः यह समझकर कि *'बनी बात बिगरन चहत'* वे अपने कार्यको स्मृति दिलानेके लिये आये; इसीसे तो उनको 'सदा स्वारथी' विशेषण दिया गया है। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—सरकारको दुःखी देखकर देवता लोग इसके पहले चित्रकूटमें आये थे, यथा—*'बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की।'*; अब विरह-विकल भगवान्‌को देखकर देवता और मुनियोंको शोच हुआ, अतः वे लोग फिर आये और स्तुति कर-करके अपने-अपने धामको चले गये, कुछ कहा नहीं, क्योंकि देख लिया कि कार्य आरम्भ हो गया, रावणवधके लिये मार्ग प्रशस्त हो गया। नारदजीके शापको सत्य करनेके लिये सरकारने विरहावस्था स्वीकार कर ली थी, अतः नारदजीको विशेष शोच हुआ।

नोट—२ ☞पूर्व लिखा जा चुका है कि इस काण्डमें और इसके आगे ऐश्वर्यकी प्रधानता है। ऐश्वर्यकी प्रधानता इस काण्डके प्रारम्भमें प्रथम मङ्गलाचरणमें ही *'श्रीराम'* पद देकर जना दी गयी है; यही कारण है कि माधुर्यप्रधान *'लषन'* और *'सिय'* नाम काण्डभरमें कहीं नहीं आये हैं और रामजीके नामके पहले *'श्री'* कई ठौर आया है, एवम् *'श्रीराम, प्रभु, देव, ईश, नाथ'* इत्यादिका ही प्रायः प्रयोग हुआ है। यहाँ भी ऐश्वर्य है, प्रभुका देवताओंको इसीसे प्रणाम करना नहीं कहा। अब उदाहरण सुनिये—

श्रीराम भूपप्रियम् (मं० श्लो० १)·······
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। (६। ३)
अब जानी मैं श्री चतुराई। (६। ७)
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम। (८)·········
नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं। (११। ४)
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। (११। १८)
बसहु हृदय श्री अनुज समेता। (१३। १०)
चले सहित श्री सर धनुपानी। (१८। १२)
करि कोप श्रीरघुबीरपर अगनित निसाचर डारहीं। (२० छं०)
कोपे समर श्रीराम। (२० छन्द)
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं (२५)
जेहि बिधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्रीराम। (२९)·······
एवमस्तु कहि रमानिवासा। (१२। १)
चले बनहि सुर नर मुनि ईसा। (७। १)
जहँ तहँ जाहिं देव रघुराया। (७। ५)
सो कछु देव न मोहि निहोरा। (८। ५)

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। (१। २)
अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ। (२। १३)
धरम धुरंधर प्रभु कै बानी। (६। ४)
प्रभु आगवन श्रवन सुनि पावा। (१०। ३)
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई। (१०। १३)
कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। (११। १)
प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। (११। २७)
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। (१२। ३)
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। (१३। १५)
दंडकबन पुनीत प्रभु करहू (१३। १६)
मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं (१४। ६)
ईस्वर जीव भेद प्रभु०। (१४)
सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। (१७। ११)
मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा। (१२। ५)
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। (१४। ७)
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। (२७। ४)

'लषन' के स्थानपर यहाँसे अब *'लछिमन'* नाम मिलेगा जो ऐश्वर्यसूचक है, यथा—*'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥'* (१। १९७) *'सिय'* के बदले *'सीता' 'श्री'* और *'रमा'* प्रायः इन तीन ऐश्वर्यद्योतक नामोंका प्रयोग हुआ है। चार-पाँच स्थानोंपर *'जानकी' 'जनकसुता'* का भी प्रयोग हुआ है जहाँ माधुर्य बरता गया है। जैसे—*'सुनि जानकी परम सुख पावा'* (क्योंकि अनुसूयाजीका वात्सल्य इनपर है); *'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम'* (क्योंकि मुनि माधुर्यके उपासक हैं), *'लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर'* (क्योंकि अभी-अभी वे शूर्पणखाको देखकर भयभीत हो चुकी हैं और अब *'निसिचर कटक भयंकर'* आ रहा है) और *'जनकसुता परिहरेहु अकेली'* (क्योंकि यहाँ ललित नरलीला कर रहे हैं)। इत्यादि।

टिप्पणी—४ *'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत·······'* इति। (क) क्या कहते हैं? उत्तर—पंपासरकी उत्पत्तिका कारण और माहात्म्य तथा नामका हेतु कहते हैं, यथा—*'सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य*

प्रभाऊ॥' (२। ३१२। ४) *'सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध नदी महिमा अधिकाई॥'* (२। ८७। ६) *'कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥'* (२। १०६। ३) तथा यहाँ *'कहत अनुज सन कथा रसाला।'* [पुनः, परम प्रसन्न इसलिये कि अब अपने प्रिय भक्त नारद आवें और मैं तुरत उनकी अभिलाषाओंको पूर्ण करूँ। भगवान् परम प्रेमी भक्तोंकी कामनाओंके पूर्ण करनेमें, उनको वर देनेमें परम प्रसन्न होते हैं। यथा— *'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर……'* (१। १४८) *'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही॥'* (११। २३) इत्यादि। *'रसाला'* से जनाया कि प्रिय भक्तों—शबरी, जटायु आदिकी भक्तिरस-प्रधान कथाएँ कहते थे। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—५ *'परम प्रसन्न'* और *'परम सुख पावा'* कहनेके बाद लिखते हैं कि कथा कही। भाव यह है कि वक्ताको सुखपूर्वक कथा कहनी चाहिये। यथा—*'एक बार तेहितर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ॥ निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥'* (१। १०६) *'एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥'* (१४। ५) *'फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥ कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥'* (४। १३। ६-७)

टिप्पणी—६ (क) यहाँ दो बार बैठना कहा—*'बैठे अनुज सहित रघुराया'* और *'बैठे परम प्रसन्न कृपाला।'* इससे जनाया कि जब देव-मुनि आये तब वे उठे थे, और अभ्युत्थान देकर पुनः बैठ गये।

टिप्पणी—७ पंपासर और मानससर दोनों सदृश हैं, यह दिखानेके लिये दोनोंमें एकसे अङ्ग वर्णन किये गये हैं। (मानस-पीयूषके प्रथम संस्करणमें यहाँ मिलान दिया गया था, पर इन संस्करणोंमें वह मिलान बालकाण्ड दो० ३९ (७-८) भाग १ में आ चुका है, अतः यहाँ नहीं दिया जाता।)

'जेहि बिधि गए सरोवर तीरा'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'प्रभु-नारद-संवाद' प्रकरण

बिरहवंत भगवंतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेषी॥ ५॥
मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥ ६॥
ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई॥ ७॥
यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ ८॥
गावत रामचरित मृदु बानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥ ९॥

अर्थ—भगवान्‌को विरह-युक्त देखकर नारदजीके मनमें बड़ा शोच हुआ॥ ५॥ मेरा शाप स्वीकार करके ही श्रीरामचन्द्रजी अनेक प्रकारके भारी दुःख सह रहे हैं॥ ६॥ ऐसे प्रभुको जाकर देखूँ, फिर ऐसा मौका न बन आयेगा अर्थात् न हाथ लगेगा॥ ७॥ यह विचार करके नारदजी हाथमें वीणा लिये वहाँ गये जहाँ प्रभु सुखसे बैठे हुए थे॥ ८॥ वे कोमल वाणीसे प्रेमसहित बहुत तरहसे बखान करके रामचरित गा रहे हैं॥ ९॥

नोट—१ *'बिरहवंत भगवंतहि देखी……'* इति। (क) यद्यपि *'देखी'* का अर्थ प्रायः *'नेत्रोंसे देखकर'* ही होता है तथापि यहाँ 'विचारकर, समझकर' ऐसा अर्थ करना चाहिये; क्योंकि अभी तो नारद पंपासरके पास आये नहीं और न प्रभुको देखा है, जैसा *'ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई'* से स्पष्ट है। ऐसे ही *'भाग्य बिभव अवधेस कर देखि देव ब्रह्मादि'* (१। ३१३) में *'देखि'* का अर्थ होगा, क्योंकि वहाँ भी देवता अभी अपने लोकोंहीमें हैं। (प० प० प्र०) अथवा सीताहरणके पश्चात् जब प्रभु महाविरही और अति कामीकी तरह खोजते और विलाप कर रहे थे, वा शबरीजीको गति देकर जब *'बिरही इव प्रभु करत बिषादा'* तब देखकर मनमें विचार करने लगे कि चलकर दर्शन करना चाहिये। विरहीकी दशा दूरसे देखी, जबतक यहाँ पहुँचे तबतक प्रभु पंपासरमें स्नान करके सुखपूर्वक बैठ गये थे। पं०

श्रीधर मिश्रजीका मत है कि *'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'* तक परतम प्रभुके अवतारकी कथा है। *'बिरहवंत भगवंतहि देखी'* यह श्रीमन्नारायण रामकी कथा है। नारदजीने उनको *'बिरहवंत'* देखा, इसीसे *'बिरहवंत भगवंतहि देखी'* कहा।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'मोर साप करि''''''अस अवसर आई।'* इति। मैंने क्रोधावेशमें शाप तो दे दिया, पर मायाविनिर्मुक्त होनेपर मेरी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई, कहा कि मेरी इच्छा है कि तुम्हारा शाप व्यर्थ न जाय। अब उसी शापको सत्य करनेके लिये, जैसे मैं विकल हुआ था, वैसी ही विकलता अपने ऊपर लिये हुए हैं। सेवकपर ऐसी ममता और प्रीति तो किसी अवतारमें नहीं देखी गयी। इस समय मेरे ऊपर अत्यन्त प्रीति लक्षित होती है। अतः सरकारकी इस कीर्तिको चिरस्थायी करनेके लिये तथा इस अवतारके उपासकोंके कल्याणके लिये रामनामके माहात्म्याधिक्यकी वरप्राप्तिका सुअवसर है फिर ऐसी कृपा कब होगी, कौन कह सकता है। दूसरी बात यह भी है कि 'सरकार यदि मुझे ब्याह कर लेने देते, तो मैं उन्हें शाप ही क्यों देता, और सरकारको विरह-व्यथा क्यों स्वीकार करनी पड़ती?' इस शंकाके समाधानका भी यही अवसर है। तीसरी बात यह कि कुछ बातें तो मुझमें ऐसी हैं जिससे सरकार मुझपर इतनी प्रीति करते हैं, अतः इनके मुखसे ऐसे गुणोंका पता चलना चाहिये जो इनकी प्रसन्नताका कारण हो सकते हों। अतः यही अवसर सरकारके दर्शन करने तथा अपने संशयोच्छेदनके लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

टिप्पणी—१ (क) *'मोर साप करि अंगीकारा'* इति। भाव कि वे ईश्वर हैं। उनको सामर्थ्य है। वे चाहते तो हमारा शाप न स्वीकार करते। हमारे शापका सामर्थ्य नहीं था कि जबरदस्ती उनके सिर पड़ सकता और उनको दुःख दे सकता। (ख) कौन शाप? उत्तर—*'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी। श्राप सीस धरि हरषि हिय।'* (१। १३७) इसी सम्बन्धसे यहाँ *'बिरहवंत भगवंतहि देखी''''''''* कहा। *'दुख भारा'* अर्थात् शीत, घाम, वर्षा, कन्दमूल भोजन, भूमिशयन इत्यादि यह दुःख तो था ही। यथा—*'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुसपात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥'* (२। २११) *'एहि दुख।''''''''* उसपर अब सीताहरण हुआ। सीता-विरहका दुःख भारी दुःख है। इससे अधिक दुःख क्या होगा। विश्वविमोहिनीके प्रसंगमें विरहका किञ्चित् अनुभव मुनिको हो ही चुका है। अतः *'दुख भारा'* कहा। (ग) *'पुनि न बनिहिं अस अवसर'* अर्थात् इस समय सुखी हैं, एकान्त है। आगे वानरोंकी भीड़ हो जायगी। मुनिको आजके बाद फिर उत्तरकाण्डमें शीतल अमराईमें मिलनेका अवसर मिला है।

टिप्पणी—२ (क) *'कर बीना'* अर्थात् वीणाका स्वर सँभाले हुए गाते हैं, यथा देवीभागवत—**'आजगाम तदाकाशान्नारदो भगवानृषिः। रणयन्महतीं वीणां स्वरग्रामविभूषिताम्॥'** (ख) *'गावत रामचरित मृदु बानी'* क्योंकि जानते हैं कि भगवान्‌को कीर्तन-गान प्रिय है, यथा—**'मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद'**; पर वह कैसा गान है जो भगवान्‌को प्रिय है, यह *'प्रेम सहित बहु भाँति बखानी'* से जनाया अर्थात् जिस कीर्तनमें प्रेम प्रधान है। गन्धर्व, किन्नर, कत्थक, वेश्या आदि गवैयोंका जहाँ गाना होता है वहाँ नहीं जाते, क्योंकि उनमें भक्तका-सा प्रेम नहीं है, वे तो राग-स्वर-तालके ज्ञाता हैं, उसीमें उनका प्रेम है और भगवान्‌को प्रेमयुक्त गान प्रिय है। *'मृदु बानी'* अर्थात् जिसमें वाणी वीणाके स्वरसे मिलती रहे। (ग) यहाँ *'रामचरित'* कहा। 'प्रभुचरित' या 'हरिचरित' पद लिखते तो अन्य सब अवतारोंका गाना पाया जाता। *'रामचरित'* से केवल इसी अवतारका चरित जनाया। 'राम' शब्द देकर यहाँ दाशरथि राम सगुण ब्रह्मके चरित प्रसंगद्वारा सूचित कर दिये हैं। *'मोर साप करि अंगीकारा'* इत्यादिसे दाशरथि रामका ही बोध होगा, दूसरेका नहीं।

रा० प्र० श०—*'गए जहाँ प्रभु सुख आसीना'* इति। प्रथम *'विरहवंत'* कहा, फिर *'सुख आसीना'* कहते हैं। इसमें भाव यह है कि (क) देखनेवालोंकी दृष्टिमें विरही और अपने स्वरूपमें सुखासीन हैं। वा, (ख) पम्पासर और उसके समीपके अनेक वृक्षोंकी सुन्दरता देखकर सुखासीन हैं। वा, (ग) स्त्रीविरहसे विरही और परोपकारमें सुखासीन हैं—कामियोंके मनमें दीनता और धीरोंके मनमें वैराग्य दोनोंसे तात्पर्य है।

नोट—☞ यहाँ शङ्का होती है कि 'यह चरित तो क्षीरशायी भगवान्‌का नहीं है, किंतु निर्गुण अज आदि परब्रह्म साकेतविहारी द्विभुज रामजीके अवतारका है' यथा—*'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा॥'* (१। १४१) तब नारदजीने कैसे कहा कि *'मोर साप करि अंगीकारा'*? इसका समाधान आकाशवाणी आदि प्रकरणोंमें आ चुका है। शिवजी रामावतारकी कथा कह रहे हैं। विस्तृतरूपसे परब्रह्म नित्य द्विभुज श्रीरामजीके रामावतारकी कथा है, पर साथ-ही-साथ अन्य रामावतारोंकी कथाएँ भी मिश्रित हैं, जो कारण वा प्रसङ्ग पाकर कही गयी हैं। जैसे आकाशवाणीमें *'नारद बचन सत्य सब करिहउँ'* वैसे ही यहाँ नारद-प्रसङ्ग। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज कहते हैं कि यह अवतार पूर्णपरात्पर ब्रह्मका है, पर स्मरण रहे कि जब-जब अवतार होता है, चाहे विष्णुभगवान् अवतार लें, चाहे कोई और, सबमें यही लीला की जाती है। देवर्षि नारद सोचते हैं कि हमने तो क्षीरशायी भगवान्‌को शाप दिया था, पर आप भी उस शापको अपने ऊपर लेकर दुःख सह रहे हैं, अतः ऐसे प्रभुसे बढ़कर कौन होगा? *'करि अंगीकारा'* का भाव मयङ्ककार यह कहते हैं कि शाप तो श्रीमन्नारायणको ही दिया, पर उसको परतम प्रभुने भी अवतार लेनेपर ग्रहण कर लिया। पं० श्रीधर मिश्रजी कहते हैं कि *'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'* तक परतम अवतारकी कथा है, आगे श्रीमन्नारायणवाले अवतारकी कथा है और सीताहरणके पश्चात् शबरीजीसे विदा होकर जो विरह-कथन है वह दोनों अवतारोंका है; परंतु परतम राम पम्पासरपर जाकर परम प्रसन्न बैठे और श्रीमन्नारायण राम *'बिरहवंत बैठे'*, अतः *'बिरहवंत भगवंतहि देखी'* लिखा। किष्किन्धासे फिर दोनों अवतारोंकी कथा चलेगी।

श्रीहरिदासाचार्यजीका मत है कि रामावतार सदा साकेतविहारी श्रीरामजीका ही होता है, विष्णुभगवान् अथवा श्रीमन्नारायण राम कभी नहीं होते। शाप चाहे विष्णुभगवान्‌को हो, चाहे श्रीमन्नारायणको, किंतु अवतार सदा साकेतसे होता है। जैसे अठपहले, सतपहले आदि बल्लोरी शीशोंमें अनेक रंग दिखलायी पड़ते हैं। यद्यपि वह स्वच्छ, श्वेत ही होता है, वैसे ही साकेताधीशका अवतार होनेपर अपनी-अपनी भावनानुसार भक्तोंकी प्रतीति होती है। देखिये, वृन्दाका शाप तो हुआ विष्णुभगवान्‌को, पर शालग्राम हुए विष्णु, नारायण, राम, सभी। पृथक्-पृथक् शालग्रामोंमें भगवान्‌के पृथक्-पृथक् रूपोंके विशेष चिह्न पाये जाते हैं और साधारणतया सभी शालग्रामोंमें भगवान्‌के सभी रूपोंकी पूजा होती है। इसी तरह भृगुजीने लात मारी विष्णुको, पर चरण-चिह्न धारण करते हैं सभी विग्रह। अवतार लेनेपर श्रीरामजी भी उसे धारण करते हैं। (विशेष बालकाण्डमें देखिये।)

नोट—३ *'पुनि न बनिहि अस अवसरु आई'* इति। वीरकविजीका मत है कि इस वाक्यमें 'अगूढ़ व्यङ्ग' है कि जब मैं स्त्रीवियोगसे विकल हुआ था, तब उन्होंने मुझे बहुत ज्ञानोपदेश किया था। अब वही आपदा उनके सिरपर पड़ी है, इस समयके क्लेशकी दशा पूछनी चाहिये। पर मेरी समझमें श्रीनारदजीका ऐसा भाव कदापि नहीं हो सकता और न है। एक तो उस समय कोई ज्ञानोपदेश नारदको किया नहीं गया है, प्रत्युत उनको पश्चात्ताप हुआ है। दूसरे, इस प्रसंगभरसे इस भावका खण्डन हो रहा है। तीसरे, भगवान्‌का उनको आशीर्वाद हो चुका है कि *'अब न तुम्हहि माया निअराई।'* (१। १३८। ८) ऐसी बुद्धि होना मायाका लगना है।

करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ ९ ॥
स्वागत पूँछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥ १०॥
दो०—नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि।
नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥ ४१॥

अर्थ—दण्डवत करते हुए उनको श्रीरामचन्द्रजीने उठा लिया और बहुत देरतक छातीसे लगाये रखा॥ ९॥ फिर स्वागत पूछकर पास बिठा लिया। श्रीलक्ष्मणजीने आदरपूर्वक उनके चरण धोये॥ १०॥ अनेक प्रकारसे

प्रार्थना करके और प्रभुको मनमें प्रसन्न जानकर तब श्रीनारदजी कमल-समान हाथोंको जोड़कर ये बचन बोले॥ ४१॥

प० प० प्र०—*'निकट बैठारे'* इति। जितना ही अधिक निकट बैठाया जाता है उतना ही अधिक प्रेम सूचित होता है। पास बैठानेका सौभाग्य विभीषण तथा सनकादिको भी प्राप्त हुआ है यथा—*'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।'* (५। ४६। ३) *'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे।'* (७। ३३। ६), पर *'परम निकट'* बैठानेका सौभाग्य परम दुलारे श्रीहनुमान्‌जीको ही प्राप्त हुआ है। यथा—*'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥'* (५। ३३। ४)

टिप्पणी—१ (क) नारदजीने श्रीरामजीको स्वामी मानकर दण्डवत् की, इसीसे लक्ष्मणजीने सादर चरणप्रक्षालन किया। अपराध क्षमा करानेके लिये विविध विनती की। (खर्रा) अथवा *'सहत राम नाना दुखभारा'* के सम्बन्धसे *'नाना बिधि बिनती'* की। (ख) *'तब'* का भाव कि वर माँगना है, स्वामी इस समय प्रसन्न हैं, वर अवश्य मिल जायगा, अतः प्रसन्न जानकर बोले।

सुनहु उदार सहज* रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बर दायक॥ १॥
देहु एक बर मागौं स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥ २॥
जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करौं दुराऊ॥ ३॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी॥ ४॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥ ५॥

शब्दार्थ—दुराऊ (दुराव)=छिपाव, पर्दा, कपट। जन=अनन्य दास, भक्त। अदेय=न देने योग्य।

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनाथजी! सुनिये। आप सुन्दर, अगम और सुगम वरके देनेवाले हैं॥ १॥ हे स्वामिन्! यद्यपि आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं, तो भी मैं एक वर माँगता हूँ, वह मुझे दीजिये॥ २॥ (श्रीरामजी बोले—) हे मुनि! तुम मेरा स्वभाव जानते हो। क्या मैं अपने भक्तोंसे कभी भी छिपाव करता हूँ?॥ ३॥ कौन-सी चीज मुझे ऐसी प्रिय लगती है, जो, हे मुनिश्रेष्ठ! तुम न ही माँग सकते हो॥ ४॥ मेरे पास जनके लिये कुछ भी अदेय नहीं है (अर्थात् सब कुछ देनेवाले ही पदार्थ हैं, ऐसा पदार्थ कोई मेरे पास नहीं है जो देनेयोग्य न हो) ऐसा विश्वास भूलकर भी न छोड़ना॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'सुनहु उदार सहज रघुनायक……'* इति। [(क) *'सुनहु सहज उदार'* और *'सुंदर सुगम अगम'* लिखनेसे अनुप्रासका सौन्दर्य विशेष बढ़ जाता तो भी ऐसा न लिखनेमें भाव यह है कि इस समय अगम वर माँगना है। अतः भगवान्‌का ध्यान उदारताकी ओर आकर्षित करना प्रथम कार्य है, इसीसे *'सुनहु उदार'* कहकर तब सहज आदि शब्द कहे। *'अगम'* शब्दको प्रथम देकर जनाते हैं कि मैं अगम वर माँगनेको हूँ। (प० प० प्र०)] (ख) *'रघुनायक'* पद देकर उदारता दिखायी कि इसी कुलके पुरुषा रघुजी ऐसे उदार हुए कि उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया, उसी उदारवंशके आप राजा हैं। उदार और राजा कहकर तब वर माँगते हैं, यह रीति है, यथा—*'नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं।'* (६। ११०) (ग) *'सुंदर अगम सुगम बरदायक'* इति। 'सुन्दर' का भाव कि आप दासको सुखदाता वर देते हैं, हमने दुःखदाता वर माँगा था कि हमें सुन्दर मोहनीरूप दीजिये सो आपने न दिया; यथा—*'आपन रूप देहु प्रभु मोही।'*……(१। १३२। ६)……*'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।'* (१। १३३) पहले अगम जानकर वरको प्रकट न किया, पर जब श्रीरामजीने कहा कि *'कवन बस्तु अस प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह*

* भा० दा० में 'परम' पर हरताल लगाकर 'सहज' बनाया गया है। १७२१ की प्रतिमें 'सहज' है, पं० रा० गु० द्वि० का पाठ 'परम' है और काशिराजवालीमें 'परम' है। 'परम उदार' का भाव कि उदार तो रघुवंशमात्र है, पर आप 'परम उदार' हैं। पं० रामकुमारजीने 'परम' पाठ रखा है।

माँगी॥' तब अगमताका विचार जाता रहा और वे हर्षपूर्वक माँगने लगे। *'अगम सुगम'* अर्थात् आपके लिये सुगम है पर माँगनेवालेको अगम्य जान पड़ता है; यथा—*'एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं॥ तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं। अगम लागि मोहि निज कृपनाईं॥''''''तथा हृदय मम संसय होई।'* (१। १४९)

टिप्पणी—२ *'देहु एक बर माँगौं स्वामी।'* अर्थात् आप मेरे स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ, अत: मैं आपसे माँगता हूँ, यथा—*'ताको कहाइ कहै तुलसी तू लजाहि न माँगत कूकुर कौरहि। जानकी जीवनको जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहि॥'* (क० ७। २६) (ख) *'एक बर मागौं'* अर्थात् आप एक क्या अनेक वर दे सकते हैं, किन्तु मैं एक ही माँगता हूँ। वा, यह मुख्य वर है जो मैं चाहता हूँ।

नोट—१ *'मोर सुभाऊ'* इति। यहाँ प्रभुने अपना स्वभाव अपने मुखसे कहा है कि मैं भक्तसे कभी भी दुराव नहीं करता। इसी तरह विभीषणजीसे अपना स्वभाव कहा है। यथा—*'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ। जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥ जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धन जैसें॥''''''''''सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥'* (५। ४८) ग्रन्थमें श्रीभरतजी, शङ्करजी तथा कविने भी उनका कुछ-न-कुछ स्वभाव प्रसंगानुकूल कहा है। यथा—*'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥'* (२। २६०। ५) *'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥'* (२। २६७) (श्रीभरतवाक्य) *'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥'* (७। ७४) (श्रीभुशुण्डिजी), इत्यादि। ☞यहाँ मैंने कुछ उल्लेख इससे कर दिया है कि भगवान् शङ्करजीका वाक्य है कि *'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* (५। ३४। ३) स्वभावका स्मरण करनेसे श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग होगा।

नोट—२ *'जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ।'* इति। भाव कि मैं अपने और उसके बीचमें कोई पर्दा नहीं रखता, मेरा जो कुछ भी है वह सब बेरोक-टोक उसका है। भगवान् जनसे दुराव नहीं करते; यथा—*'सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ। सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ।''''''''''यह जानत रिपिराउ। जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाय। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ। ''''''''नहिं कोउ प्रिय मोहिं दास सम''''''''।'* (गी० ५। ४५)

टिप्पणी—३ *'कौन बस्तु असि प्रिय''''''।'* इस चौपाईमें स्वामी और सेवक दोनोंका पक्ष कहा। कौन वस्तु ऐसी प्रिय है जो मैं तुमसे दुराऊँगा (छिपाऊँगा) और कौन ऐसी वस्तु है जो तुम (सेवक) माँग न सको। पुन:, इससे जनाया कि मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं, अपना जन प्रिय है। 'मुनि' और 'मुनिवर' का भाव कि मुनि मननशील, भजननिष्ठ, शास्त्रोंके ज्ञाता होते हैं, अत: मेरा स्वभाव जानते हैं—और आप तो मुनिवर हैं, देवर्षि हैं तब आप क्यों न जानेंगे?

टिप्पणी—४ *'अस बिस्वास तजहु जनि भोरें।'* यह कथन सहेतुक है। विश्वासका छुट जाना सम्भव है, क्योंकि बालकाण्डमें (*'आपन रूप देहु प्रभु मोही'*) वर माँगनेपर न मिला था। इसीसे कहते हैं कि भूलकर भी विश्वास न छोड़ना। [*'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे'*— इससे शङ्का होती है कि 'जब नारदने माँगा था कि *'आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावउँ ओही॥'* तब क्यों न दिया?' समाधान यह है कि इतना ही माँगा होता तो अवश्य दे देते, पर उन्होंने यह भी कहा था कि *'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥'* अत: भगवान्ने हित किया। (प० प० प्र०)]

तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगौं करौं ढिठाई॥ ६॥
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥ ७॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥ ८॥
दोहा—राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उड़गन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ॥ ४२॥

शब्दार्थ—**बधिका** (बधिक)=व्याधा, बहेलिया। राका=पूर्णमासी की रात्रि। जिस तिथिमें चन्द्रमा सोलहों कलासे पूर्ण हो।—'राका पूर्णनिशाकरे'। सोम=चन्द्रमा। उडुगन=नक्षत्र, तारागण।

अर्थ—तब नारदजी प्रसन्न होकर बोले—मैं ऐसा वर माँगता हूँ, यह ढिठाई करता हूँ॥ ६॥ यद्यपि प्रभुके अनेकों नाम हैं और वेद एकसे एकको अधिक बताते हैं॥ ७॥ तो भी, हे नाथ! 'राम' यह नाम सब नामोंसे अधिक हो और पापरूपी पक्षिसमूहके लिये व्याधारूप होवे॥ ८॥ आपकी भक्ति पूर्णिमाकी रात्रि है। रामनाम उस पूर्णिमाका चन्द्रमा है अर्थात् पूर्ण चन्द्रमा है। अन्य सब नाम निर्मल तारागण हैं! (इस प्रकार आप सबके सहित) भक्तके निर्मल हृदयरूपी आकाशमें बसिये। दयासागर रघुनाथजीने मुनिसे 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा। तब नारदजीने मनमें अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रभुके चरणोंमें माथा नवाया॥ ४२॥

टिप्पणी—१ *'तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगौं'......'* इति। (क) नारदजी पहले वर माँगनेको कहकर चुप हो गये कि देखें भगवान्‌का रुख क्या है, वे क्या कहते हैं। जब भगवान्‌ने कहा कि *'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥'*, तब वर देनेकी रुचि जानकर बोले। पहले जब माँगनेको कहा तब हर्ष नहीं था—*'नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि'* और अब *'बोले हरषाई'!* (ख) *'करौं ढिठाई'* इति। ढिठाई क्या है? यही कि प्रभुके सभी नाम हैं, उनमें न्यूनाधिक्य भाव करके एक विशिष्ट नामको सर्वश्रेष्ठ बनानेका वर माँग रहे हैं। जो मुनि यह न कहते तो कपट निश्चित ठहरता, कह देना ही गुण है।—[शाप देनेके बाद जब अपराध-क्षमाकी प्रार्थना की तब प्रभुने कहा था कि *'जपहु जाइ संकर सत नामा'*, अब मुनि रामनामहीको समस्त पापोंके लिये प्रायश्चित्त बनाना चाहते हैं—(खर्रा)]

टिप्पणी—२ *'जद्यपि प्रभुके नाम अनेका। श्रुति......'॥* (क) भाव कि न्यूनाधिक्य जो मैं कहनेको हूँ यह कुछ मैं ही नहीं कह रहा हूँ, वेदोंने स्वयं कहा है कि एकसे एक अधिक है। (ख) रामनाम मेरा इष्ट है, यह नाम सबसे बड़ा होवे और सबसे अधिक पापनाशक हो; इस कथनसे इस मन्त्रके ऋषि नारदजी सिद्ध हुए। जिसके द्वारा जिस बातका आविर्भाव होता है वही उसका ऋषि कहा जाता है। (ग)—*'अघ खगगन बधिका'*— नामपर व्याधाका आरोप करनेका भाव कि व्याधाको दया नहीं होती और चिड़ियोंको मारना ही उसका काम है। वह पक्षियोंको ढूँढ़कर मारा करता है। नारदजीके वर माँगनेका भाव यह है कि जो कोई आपका 'राम' नाम जपे उसके समग्र गुप्त-प्रकट सभी पाप नष्ट हो जायँ। वर्ण, मात्रा, व्यापकता, सर्वस्वताका विचार करें तो सबसे बड़ा यही है, यही एक नाम विशेष्य है। जितने नाम हैं उनमेंसे यदि र, म निकाल दें तो वे निरर्थक हो जायँ।

नोट—१ परमेश्वरके अनन्त नाम हैं और सब पापका नाश करने तथा मुक्ति देनेमें समर्थ हैं, फिर भी श्री 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। कारण कि राम नाम स्वत: प्रकाशित है और सब नामोंका आत्मा और प्रकाशक है। इसके प्रत्येक पद र, अ, म में सच्चिदानन्दका अभिप्राय स्पष्ट झलकता है। अन्य नामोंमें यथार्थत: सच्चिदानन्दका अर्थ घटित नहीं होता। किसीमें सत् और आनन्द मुख्य है, चित् गौण है, किसीमें सत् चित् मुख्य है, आनन्द गौण है। इत्यादि। प्रमाण तथा विशेष नामवन्दनाप्रकरण एवं १। १९। १ में देखिये।

नोट—२ रामनाममें यह गुण तो सदासे है, जो बात पहलेसे ही बनी बनायी है उसीको माँगते हैं, केवल जगत्में प्रसिद्ध होनेके लिये। जिसमें लोक जान जाय कि यह नाम औरोंसे विशेष है, तथा यह कि जैसे गायत्री आदिके ऋषि विश्वामित्रादि हैं, वैसे ही रामनामके ऋषि नारद मुनि हैं। (रा० प्र०) नंगे परमहंसजी *'अघ खगगन बधिका'* को सम्बोधन मानते हैं। यहाँ 'परंपरित रूपक अलंकार' है।

टिप्पणी—३ (क) *'राम सकल नामन्ह तें अधिका'* इस कथनसे और नामोंमें अभक्ति पायी गयी, अतः कहते हैं कि *'राकारजनी·······'।* अर्थात् सब नामोंसे बड़ाईमें अधिक हो, पापके नाश करनेमें अधिक हो, प्रकाशमें अधिक हो, दर्जा (पदवी) में अधिक हो। चन्द्रमा तारापति है और रजनीपति भी, वैसे ही रामनाम सब नामोंका पति और भक्तिका पति है।

श्रीबैजनाथजी— हृदयाकाशमें बसनेका भाव कि जैसे शरद्चन्द्र अमृत स्रवता है जिससे सब औषधियाँ सजीव होती हैं, वैसे ही मेरे द्वारा रामनामके प्रकाशसे प्रेमामृत स्रवे जिससे समस्त लोकोंके जीवन भक्तिरूपी सजीवता प्राप्त करें।

पं०—रामनामको सोम और अन्य नामोंको नक्षत्र कहनेसे भक्तिरूपी पूर्णमासीकी शोभा बन गयी और निर्दोष उपासना भी हुई तथा श्रीरामनामकी श्रेष्ठता भी रही।

प० प० प्र०—१ *'राका रजनी भगति तव··········'* इति। (क) इससे सूचित किया कि जैसे जबतक पूर्णचन्द्र नहीं है तबतक राकारजनीका अस्तित्व ही नहीं है, वैसे ही जबतक रामनामकी निष्ठा नहीं तबतक भक्तिका अस्तित्व ही नहीं है। इस सिद्धान्तकी पुष्टि *'बर्षारितु रघुपति भगति·······।'* (१। १९) से होती है। जब रकार मकाररूपी श्रावण भादों मास ही न होंगे तब भक्तिरूपी वर्षाऋतुका अस्तित्व ही कहाँसे होगा। यद्यपि पूर्णिमामें नक्षत्रोंकी तेजस्विता न्यून हो जाती है, तथापि अन्य नक्षत्रगणोंका अस्तित्व न हो तो राकारजनीकी शोभा घट जायगी। अतः अन्य नामोंको उडुगण कहा। (ख) *'उडुगण'* से अट्ठाईस नक्षत्रोंका ही ग्रहण होगा। क्योंकि चन्द्रमा आकाशमें स्थिर नहीं रहता। उसके भ्रमणका मार्ग निश्चित है। यह अट्ठाईस नक्षत्रोंमें होकर ही भ्रमण करता है। अतः उडुगणसे नक्षत्रमण्डल ही गृहीत है। (ग) *'बिमल'* का भाव कि अमावस्याकी निरभ्र रात्रिमें जितने तारे देखनेमें आते हैं, उतने पूर्णिमाकी रात्रिमें देखनेमें नहीं आते, जो अत्यन्त तेजस्वी होते हैं वही पूर्णिमाको देख पड़ते हैं। अतः उन्हींको *'बिमल'* कहा। इसी तरह भगवन्नामोंमें कितने ही ऐसे हैं जिनका उपयोग सकाम कर्मोंकी सिद्धिमें शीघ्र सफल होता है, कितने ही मारणादि प्रयोगोंमें उपयुक्त होते हैं। ये सब बिमल नहीं हैं। काम्य, निषिद्ध, अभिचारादिको वर्ज्य करके जिन नामोंका उपयोग किया जाता है वे ही निर्मल हैं। बिमलनाम और उडगन दोनोंके साथ है। [अथवा, भगवन्नाम सभी निर्मल है, पर नक्षत्र सब निर्मल नहीं होते। अतः नामोंको निर्मल नक्षत्र कहा।]

प० प० प्र०—२ *'भगत उर ब्योम'*— श्रीरामनाम और शशिमें एक महान् भेद है। आकाश मेघोंको हटानेमें असमर्थ है। अतएव नारदजीने प्रथम ही बड़ी दक्षता और सावधानतासे काम लिया। उन्होंने पहले पापके नाशकी शक्ति रामनामके लिये माँग ली, तब उसके बसनेकी प्रार्थना की। *'खग'* का अर्थ व्युत्पत्तिदृष्ट्या वायु और मेघ भी लेनेमें हानि नहीं है। (*खग*=आकाशमें गमन करनेवाला) इस तरह *'अघ खग गन बधिका'*= पापरूपी मेघसमूहोंका नाशक वायु।=पापरूपी पक्षिगणका विनाशक खग बाज। यदि नारदजी यह वर न माँग लेते तो चित्तरूपी आकाशस्थ पापरूपी मेघोंका विनाश करनेकी शक्ति रामनामरूपी सोममें न होनेसे दोहेमें जो कुछ माँगा वह निरर्थक-सा हो जाता। केवल शुद्ध चित्त साधकोंको ही उस सोमसे अमृत मिल सकता और *'नव महँ एकउ जिन्ह के होई'* यह वाक्य भी मिथ्या हो जाता, क्योंकि *'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा'* यह उनमेंसे एक है। रामनाममें सब शक्ति है, वह हृदयाकाशको निर्मल भी बना देता है और फिर अमृतादिकी प्राप्ति भी कर देता है। (दोहेमें भी 'परंपरित रूपक अलंकार' है।)

टिप्पणी—४ *'बसहु भगत उर ब्योम।' 'बसहु हृदय मम ब्योम'* नहीं कहते, क्योंकि वे कुछ अपने लिये ही ऐसा वर नहीं माँगते, सभी भक्तोंके लिये श्रीरामनाममें यह प्रताप माँग रहे हैं कि अन्य समस्त नामोंसे

इसमें अधिकता हो। अतः *'बसहु भगत उर ब्योम'* कहना उपयुक्त ही नहीं किंतु आवश्यक ही है।

टिप्पणी—५ (क) *'कृपासिंधु'* हैं, इसीसे नारदपर समुद्रवत् गहरी कृपा हुई, उनको अगम्य वर मिला। (ख) *'तब नारद मन हरष अति'* इति। प्रथम प्रभुको प्रसन्न बैठे देख वर माँगनेको कहा, जब उनका रुख देखा कि जो वर चाहो माँग लो *'तब नारद बोले हरषाई'* और अब वरकी प्राप्ति हुई, अतः अब मनमें *'हरष अति'* हुआ। अति हर्ष हुआ, अतः प्रभुके चरणोंमें माथा नवाया। कृतज्ञता जनायी।

वि० त्रि०—यद्यपि ऐसा वर माँगना वस्तुतः नारदजीकी ढिठाई थी। जीवको क्या अधिकार है कि ईश्वरके नामोंके माहात्म्यमें हस्तक्षेप करे। परंतु रघुनाथ ठहरे माँगनेवालेको 'नहीं' यहाँसे कभी मिलती नहीं, और कृपासिंधु हैं, नारदजीकी नाना विधिकी विनतीपर प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' कह दिया।

तब तो नारदजीके मनमें बड़ा हर्ष हुआ, उनकी अभिलाषा पूरी हो गयी। वे चाहते थे कि श्रीरामावतारके लिये कीर्तिस्तम्भ खड़ा कर दें, रामनामका माहात्म्य सरकारके अन्य नामोंसे अधिक हो जाय। सो सरकारके इस वरदानसे अधिक हो गया।

नारदजीको ऐसा चाहनेका कारण यह था कि जैसी भक्तवत्सलता इस अवतारमें दिखलायी गयी कि भक्तके मुखसे क्रोधमें निकली हुई बात भी असत्य न हो, इसलिये इतने क्लेशका भार उठाना, ऐसी भक्तवत्सलता तो किसी अवतारमें देखी नहीं गयी। अतः इस अवतारका कीर्तिस्तम्भ स्थापित होना चाहिये। इस अवतारके नामके माहात्म्यका उत्कर्ष होना ही सच्चा कीर्तिस्तम्भ है, उसे नारदजीने खड़ा कर ही दिया, इसीलिये कृतकृत्य होकर प्रभुके चरणोंमें सिर झुकाया।

नारदजी और मनुजीका वर माँगनेमें मिलान—

नारदजी	मनुजी
सुनहु उदार सहज रघुनायक	१ *दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।*
सुंदर अगम सुगम बरदायक	२ *एक लालसा बड़ि उर माहीं सुगम अगम।*
देहु एक बर माँगउँ स्वामी।	३ *एक लालसा बड़ि उरमाहीं।............पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी*
जद्यपि जानत अंतरजामी॥	४ *सो तुम्ह जानहु अंतरजामी।*
जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।	५ *मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं॥*
अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥	६ *सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही।*
अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई	७ *प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।*
राम सकल नामन्ह ते अधिका होहु	८ *चाहौं तुम्हहिं समान सुत*
एवमस्तु मुनि सन कहेउ	९ *एवमस्तु करुनानिधि बोले।*
ये रामनामके ऋषि हुए।	१० ये रामरूपके ऋषि हुए। नाम-नामी एक ही हैं।

☞इस प्रसङ्गको मनुप्रसङ्गके समान लिखनेमें भाव यह है कि नारदजीने नाम माँगा और मनुजीने रूप। नामरूप दोनों तुल्य हैं, यथा—*'समुझत सरिस नाम अरु नामी'* एवं **'न भेदो नाम नामिनः।'** और माँगनेवाले भी दोनों तुल्य हैं। क्योंकि दोनों ही ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं। मनुजीने इस रूपके पिता होनेकी चाह की और नारदजी इस नामके ऋषि होना चाहते हैं। इसीसे और किसी देव या ऋषिकी समता न कही, और कोई मालिक नहीं बने, औरोंने नाम, रूप, भक्तिका (हृदयमें) निवासमात्र माँगा है।

मा० हं०—'यह संवाद वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायणमें नहीं है.......इस राम नारद संवादके कारण स्वामीजीको यह दोष लगाया जाता है कि वे अपनी भक्तिकी लहरोंमें पक्षपातकी ओर एकाएक बहुत झुक पड़ते हैं। उनपर इस दोषके लगाये जानेका कारण *'राम सकल नामन्ह ते अधिका'* यह चौपाई है। हमारी समझमें यह अपवाद निरर्थक है। यह न तो पक्षपात हो सकता है न अंधप्रेम। सत्यमें यह ऊर्जित भक्तिनिष्ठा है।'

नोट—३ बारम्बार ग्रन्थमें दिखाया गया है कि रामचरितमानस शङ्करदत्त चरित है। वाल्मीकि आदिसे

लिया हुआ नहीं है। तथापि लोग अल्पज्ञताके कारण संदेह करते हैं। यदि मान लें कि यह तुलसीहृदयसे कल्पना किया हुआ अनेक ग्रन्थोंसे लिया हुआ ही है, तो धन्य है पूज्यपाद गोस्वामीजीकी व्यापकबुद्धिको! कि आजतक लोग पूरा पता नहीं लगा पाते कि कहाँका कौन चरित है!!

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी॥ १॥
राम जबहिं प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥ २॥
तब बिवाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥ ३॥
सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ ४॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ ५॥
गह सिसु बच्छ* अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई†॥ ६॥

शब्दार्थ—'**सहरोसा**'=सहर्ष। '***सरबस देउँ आज सहरोसा।***' (१। २०८। ३) देखिये। **अरगाई**=अलग करके, चुपकेसे।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीको अत्यन्त प्रसन्न जानकर नारदजी फिर कोमल वचन बोले॥ १॥ हे श्रीरामजी! हे रघुराज! सुनिये, जब आपने अपनी मायाको प्रेरित करके मुझे मोहित किया था॥ २॥ तब मैंने विवाह करना चाहा था। हे प्रभो! आपने किस कारणसे विवाह न करने दिया?॥ ३॥ (प्रभु बोले—) हे मुनि! सुनो! मैं तुमसे प्रसन्नतापूर्वक कहता हूँ, जो सब आशा-भरोसा छोड़कर मात्र मेरा ही भजन करते हैं, मैं उनकी सदा उसीतरह रक्षा करता हूँ, जैसे माता बालककी रक्षा करती है॥ ४-५। ज्यों ही छोटा बच्चा अग्नि या सर्पको दौड़कर पकड़ना चाहता है त्यों ही माता उसे दौड़कर अलग करके बचा लेती है॥ ६॥

टिप्पणी—१ '***अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी।*********' इति। (क) '***अति प्रसन्न जानी***' का भाव कि प्रथम जब नारद आये तब प्रभुको प्रसन्न जाना था, यथा—'***नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि***' और जब उन्होंने वरदान दिया तब उनको अपने ऊपर '***अति प्रसन्न***' जाना। (ख) इससे यह भी जनाया कि भक्तके मनोरथ पूर्ण करनेमें प्रभुको अत्यन्त हर्ष होता है और प्रसन्न आनन्दकन्द तो ये सदैव ही हैं। (ग) '***पुनि***' से जनाया कि एक बात समाप्त हुई, अब दूसरी बात कहते हैं। इसी कारण प्रभुने भी कहा कि '***सुनु मुनि तोहि कहउँ*********'। जब वे दूसरी बात कहने लगे तब '***सुनु***' कहा। आगे भी फिर जब नयी बात कहेंगे तब प्रभु पुनः '***सुनु***' कहेंगे, यथा—'***सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।***' अर्थात् '***सुनु***' से नया प्रसङ्ग जनाया जाता है।

टिप्पणी—२ '***राम जबहिं प्रेरेहु निज माया।*********' इति। (क) इससे नारदमदमोचन प्रसङ्गकी चर्चा जनायी। '***श्रीपति निज माया तब प्रेरी।***' (१। १२९। ८) जो वहाँ कही गयी वही '***निज माया***' यहाँ अभिप्रेत है। '***निज माया***' से विद्यामायाको प्रेरित करना जनाया। अविद्यामाया दासके पास नहीं जाती, यथा—'***हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥***' (७। ७९। २) अर्थात् विद्यामाया भी प्रभुकी इच्छासे ही व्यापती है, नहीं तो वह भी न व्यापे। (ख) '***मोहेहु मोहि***', यथा—'***देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।***' (१। १३१) '***मुनिहि मोह मन हाथ पराए***' (१। १३४) इत्यादि।

टिप्पणी—३ (क) ['***तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा***', अर्थात् मायाकी प्रेरणासे ही मैंने विश्वमोहिनीपर मोहित होकर उसको पत्नीरूपमें पानेकी इच्छा करके उसकी प्राप्तिके लिये आपसे प्रार्थना की थी। यथा—'***अति आरति कहि कथा सुनाई*********आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही॥***' (१। १३२) '***प्रभु करै न दीन्हा***' अर्थात् आपने अपना रूप न देकर बन्दरका रूप मुझे दे दिया, जिससे वह मेरे गलेमें जयमाल न डाले। इसका क्या कारण?] (ख) '***प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा***'— बालकाण्डमें पूछनेका

* बिच्छु—पं० शिवलाल पाठक, को० रा०। † अरुगाई—वीरकवि।

योग न था, क्योंकि वहाँ कठोर वचन कहे थे, शाप दिया था जिससे (भाव) नीरस हो गया था, अब पूछनेका उचित अवसर मिला।

वि० त्रि०—१ इस प्रश्नका बीज ऊपरके संवादमें स्वयं सरकारने बो दिया, कहा कि ***'कवन बस्तु अस प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी॥'*** ऐसा सुननेपर इस बातका मनमें आना स्वाभाविक है कि वह प्रिय वस्तु विश्वमोहिनी राजा शीलनिधिकी कन्या थी, जिसे आपने वरण कर लिया और मुझे मिलने न दिया। अतः वरदान मिलनेके बाद नारदजी पूछ बैठे कि जब यह बात है तो मैंने तो राजा शीलनिधिकी कन्यासे विवाह करना चाहा था, आपने मुझे करने क्यों नहीं दिया? यदि मेरा विवाह उससे हो जाता, तो मैं क्यों क्रोध करके शाप देता और आपको उसे सत्य करनेके लिये इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता?

वि० त्रि०—२ ***'सुनु मुनि·········'*** इति। भगवान् उत्तर देते हैं कि विश्वमोहिनीको मैं बरना चाहता था इसलिये तुम्हें बरने नहीं दिया, यह बात नहीं है। मैंने तुम्हारे साधु धर्मकी रक्षा की जो सब भरोसा छोड़कर मेरा भजन करते हैं, उनकी मैं उसी भाँति रक्षा करता हूँ, जैसे माँ छोटे बालककी रक्षा करती है। छोटा बालक अपना हित-अनहित नहीं जानता, वह अनिष्टकारक वस्तुको लेना चाहता है। माँ उसे नहीं लेने देती। इसका यह अर्थ नहीं है कि माँ उस अनिष्टकारक वस्तुको प्रिय समझती है, इसलिये बच्चेको नहीं लेने देती।

टिप्पणी—४ (क) ***'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा'*** इति। [निस्पृही अनन्य भक्तोंके विषयमें नारदके प्रश्नसे बोलनेका अवसर प्राप्त हुआ। ☞यह सोचकर भगवान् हर्षित हो गये। (प० प० प्र०)] ***'तजि सकल भरोसा'*** इति। (३६। ५) ***'मम भरोस हिय'*** देखिये। (ख) ***'जिमि बालक राखै महतारी।'*** भाव कि जैसे माता सब काम करती है पर उसका चित्त बच्चेमें ही लगा रहता है वैसे ही मैं रक्षा करता हूँ।

टिप्पणी—५ ***'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई·········'***, यथा—***'खेलत बालक ब्याल सँग मेलत पावक हाथ। तुलसी सिसु पितुमातु ज्यौं राखत सिय रघुनाथ॥'*** (दोहावली १४७) ***'अरगाई'***=चुप हो के, यथा—***'अस कहि राम रहे अरगाई।'*** (२। २५९। ८)=अलग करके। क्रोध अनल है; यथा—***'लषन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोप कृसानु।'*** (१। २७६) ***'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।'*** (५। ४९) काम सर्प है, यथा—***'काम भुअंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लगै न ताही॥'*** (वि० १२७) माता सर्प और अग्निसे रक्षा करती है, मैं दासकी रक्षा काम-क्रोधरूपी सर्प और अग्निसे करता हूँ।

'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ·········' इति।

१—१७२१ वाली प्रति और भा० दा० जीका पाठ ***'अरगाई'*** है। काशिराजका पाठ ***'अरुगाई'*** है।

२—पं० शिवलाल पाठकजी ***'सिसु बिच्छु'*** पाठ देते हैं।

३—कोई तो 'शिशु' और 'बच्छ' को दो शब्द मानते हैं और कोई बच्छको शिशुका विशेषण मानते हैं। **बच्छ**=बछड़ा।=वत्स, प्यारा, यथा—***'बहुरि बच्छ कहि लाल कहि रघुपति रघुबर तात।'*** (अ० ६८) बच्छ शिशु=प्यारा छोटा अबोध बच्चा। यह अर्थ पं० राजकुमारजी और पाँड़ेजीने लिया है और इसके प्रमाणमें दोहावली है। श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज भी यही भाव कहते हैं कि ***'बच्छ'*** बालक शब्दका वाचक है और शिशु बहुत छोटेको कहते हैं। दो प्रमाण भी मिलते हैं, अतः यही निस्सन्देह अर्थ है और यही पाठ शुद्ध जान पड़ता है। पं० शिवलाल पाठकजी ***'बिच्छु'*** पाठ शुद्ध कहते हैं और ***'बच्छ'*** पाठ देनेवालोंको गाली देते हैं जो उनका स्वभाव जान पड़ता है। बिच्छुसे वे लोभका भाव लगाते हैं। अर्थात् बिच्छू (लोभ), अनल (काम) और अहि (क्रोध) से बचाती है। इस तरह काम, क्रोध, लोभ तीनों आ गये। पर इसमें एक शङ्का होती है कि गोस्वामीजीने ***'बिच्छु'*** शब्द' कहीं नहीं दिया, जहाँ दिया है वहाँ ***'बीछी'*** शब्द दिया है। दूसरे, अहि और अनलके प्रमाण भी काम और क्रोधके लिये प्रयुक्त किये जानेके मिलते हैं, बिच्छूका लोभके लिये प्रमाण नहीं मिलता। तीसरे दोहावलीमें जोड़का दोहा मिलता है। उसमें भी 'बिच्छू' नहीं है। चौथे आगे भी प्रभु दो ही रिपु गिनाते हैं-'***दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।***' इन कारणोंसे उनके दुर्वचनको शिरोधार्य करते हुए हमें भी उनका पाठ गृहीत नहीं है।

'अरु गाई' पाठ लेकर लोगोंने इधर तो बालक और बछड़ा और उधर माता और गौ अर्थ किया है। पर इसमें सन्देह है कि बछड़ा दौड़कर अग्नि और सर्पको पकड़ता है और गौ उसे दौड़कर अलग करती है। पं० रामगुलाम द्विवेदीकी प्रतिलिपिमें भी *'अरगाई'* पाठ है पर जो उनकी छपी गुटका है उसमें जान पड़ता है कि पाठ बदल दिया गया है, क्योंकि वीरकविजी गुटकाका पाठ *'अरुगाई'* बताते हैं। पं० शिवलाल पाठकजी भी *'अरगाई'* पाठ देते हैं।

दीनजीकी राय है कि *'बिच्छु'* पाठ अधिक ठीक है। पहले कहा कि जैसे माता बालककी रक्षा करती है, तब सहज ही प्रश्न होता है कि कैसे रक्षा करती है? उसका उदाहरण दिया कि *'गह सिसु बिच्छु'* यह पूर्व अर्थका प्रमाण है।'

☞ऊपर *'जिमि बालक राखै महतारी'* कहा है और *'सिसु बच्छ राखै जननी।'* में भी इसी अर्थसे सहमत हूँ। 'अरगाना' के दोनों अर्थ कोशमें मिलते हैं और मानसमें भी दोनों अर्थ *'अब रहु अरगाई'* के लिये जा सकते हैं—'चुप रह' वा 'दूर हो'। *'अस कहि राम रहे अरगाई'* अर्थात् चुप हो गये वा कहकर अलग हुए। दूसरे बहुत-से ऐसे शब्द ग्रन्थोंमें हैं जिनका एक अर्थमें एक ही स्थानपर प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ ले सकनेमें आपत्ति क्या? विशेषकर कि जब प्रमाण पूरी चौपाईकी जोड़का मिल रहा है। पुन: जैसे आगे *'बालक सुत सम दास अमानी'* कहा, वैसे ही यहाँ 'सिसु बच्छ' कहा अर्थात् छोटा अज्ञान बच्चा। छ: चरणोंमें उसी भावके शब्द इसी स्थानपर हैं। इनका पूर्वापर प्रसङ्ग मिलानेसे यही अर्थ सिद्ध होता है।

☞मा० पी० के प्रथम संस्करणके इस लेखपर जो श्रीनंगेपरमहंसजीने विचार प्रकट किये हैं वे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—'श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित मानस बीजकसे क्रमश: चार प्रतियोंकी जो नकलें हुई हैं, उनमें बिच्छू ही पाठ है* और बिच्छूका अर्थ भी ठीक बैठता है, क्योंकि दो वर्षका बालक जैसे साँप और अग्निको खेल समझकर पकड़ने लग जाता है, वैसे ही बिच्छूको भी खिलौना समझकर पकड़ता है तथा जैसे उस बालकको साँप और अग्नि दुखदायी हैं, वैसे ही बिच्छू भी दु:खदायी है, बल्कि घरोंमें बहुधा बिच्छू अधिक निकला करते हैं साँप कभी-कभी निकलते हैं। तो बिच्छूसे माता यदि न बचायेगी तो कौन बचायेगा? वैसे ही श्रीरामजीके भक्तोंको काम और क्रोधकी अपेक्षा लोभका अधिकतर संयोग रहा करता है……। यदि लोभसे प्रभु न रक्षा करेंगे……तो लोभका रक्षक कौन होगा?……पुन: बच्छ पाठसे कोई मतलब भी यहाँ नहीं निकलता है और बिना मतलबके ग्रन्थमें कोई शब्द नहीं रखे गये हैं।……'

'बहुरि बच्छ कहि' के आधारपर बच्छका अर्थ करना असङ्गत है, क्योंकि यहाँ लाड़-प्यारका प्रसङ्ग नहीं है।…………यहाँ रक्षाके प्रसङ्गमें लाड़-प्यार सम्बन्धी शब्दका अर्थ करना निरर्थक है।……बच्छका यहाँ प्रसङ्गानुकूल कोई अर्थ है ही नहीं। दूसरे रक्षामें त्रुटि अलग आ जाती है कि 'बिच्छू' से माता

---

* यदि चौथी प्रति बीजकसे उतारी गयी है तो गोस्वामीजी लिखी हुई उस प्रतिको जनताके समक्ष लाना चाहिये था। परंतु आजतक वह असली प्रति किसीने देखी नहीं। उस परम्पराके पढ़े हुए महात्मा श्रीजानकीशरणजी स्नेहलताजीसे संपादकने अपना सन्देह प्रकट किया था। वे कहते थे कि उस प्रतिमें भी बहुत काट-छाँट संशोधन आदि देख पड़ता है। कोदोरामजीने जब असली प्रतिसे लिया जो उनके समयतक उसका होना सिद्ध हुआ। 'तब वह प्रति है कहाँ?' यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग काम और क्रोधका ही है। स्त्रीको देखकर कामोद्दीपन हुआ, विवाहकी इच्छा हुई। क्रोध हुआ, भगवान्‌को शाप दिया। काम और क्रोधपर नारदने विजय पायी थी, उसीपर उन्हें गर्व हुआ था जिससे भगवान्‌ने उनके साथ वह लीला की जिसमें वे काम, क्रोध दोनोंके वश हो गये। अतएव प्रस्तुत प्रसङ्गके अनुसार दोको कहा गया। आगे 'बालक सुत सम दास अमानी' की जोड़में भी 'सिसु बच्छ' ठीक जान पड़ता है। शिशु बच्छ=बालक सुत। ☞दासकी समझमें 'बच्छ' पाठ ही समीचीन है। पाठकोंको जो रुचे वे उसे ग्रहण करें।

नहीं बचाती।……यदि कहिये कि आगे लिखा है कि *'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही'* तो उसका तात्पर्य यह है कि जब शत्रुका प्रसङ्ग आयेगा तब काम, क्रोध दो ही लिये जायँगे और जब दुःखदायी होनेका प्रसङ्ग होगा तब काम, क्रोध और लोभ तीनोंका ग्रहण होगा।'

प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता॥ ७ ॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ ८ ॥
जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ ९ ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥ १०॥

अर्थ—सयाना होनेपर उस पुत्रपर माता प्रीति तो करती है पर वह पिछली बात नहीं करती (अर्थात् जैसा प्रेम, जैसी रक्षा शिशुपनमें करती थी वैसी अब नहीं करती, क्योंकि वह स्वयं रक्षा कर सकता है)॥ ७॥ ज्ञानी मेरे बड़े पुत्रके समान हैं और मानरहित दास मेरे बालक (छोटे) पुत्रके समान हैं॥ ८॥ मेरे दासको मात्र मेरा ही बल है और उस (ज्ञानी) को अपना बल है। परंतु काम और क्रोध दोनोंके शत्रु हैं॥ ९॥ ऐसा विचारकर बुद्धिमान् लोग मुझे भजते हैं और ज्ञान प्राप्त होनेपर भी भक्ति नहीं छोड़ते॥ १०॥

प० प० प्र०—*'प्रौढ़ भए*……' इति। जैसे-जैसे पुत्र बड़ा होता जाता है वैसे-ही-वैसे उसके हृदयमें यह बात आने लगती है कि अब मैं बड़ा हो गया, अपना हित-अनहित मैं समझता हूँ। जब पुत्रकी भावना ऐसी होती है तब स्वभावतः माताकी प्रीतिकी रीतिमें फर्क पड़ जाता है। उस पुत्रके संरक्षण, पालन-पोषणकी जिम्मेदारी अब मातापर नहीं रह जाती। *'एक पिता के बिपुल कुमारा।'* (७। ८७। १) से *'सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।'* (८७) तक देखिये।

प० प० प्र०—२ *'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी'*— पुत्र जब अपने जीविकोपार्जनमें समर्थ हो जाता है, तब माता-पिताका उत्तरदायित्व छूट जाता है। वही बात ज्ञानी और भगवान्के विषयमें है। ज्ञानीको ऐसा लगता है कि मैं अब मुक्त हो गया, कुछ प्राप्तव्य रह ही नहीं गया, काम-क्रोधादि तो मेरे पास फटक ही नहीं सकते। वे तो मनके धर्म हैं। मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्त स्वभाववाला ब्रह्म हूँ, 'ब्रह्म ही मैं हूँ'—इतना ही रह जाय तो विशेष हानि नहीं है। तथापि वह कहता है कि ईश्वर मिथ्या है, ईश्वरके भजनकी मुझे आवश्यकता ही क्या?—यह है ज्ञानाहङ्कार। ज्ञान पूर्वकालमें अकृतोपास्ति और पश्चात् कालमें वृखोपास्ति। जिस भक्तिके सहारे ज्ञानकी प्राप्ति हुई उसको भूलना कृतघ्नता है।

'दास अमानी' इति। *'दास'* शब्दका विवेचन बहुत बार आ चुका है। अमानी—जिसको अपने कर्तृत्व, साधनबल इत्यादिका भरोसा नहीं है, जो केवल भगवान्की कृपापर ही अवलम्बित रहता है, भगवान् कृपा करेंगे तभी मेरा उद्धार हो सकता है, ऐसी जिसकी दृढ़ निष्ठा है—वही 'अमानी, दीन, अनन्यगतिक' है। श्रीशरभङ्गजी, श्रीसुतीक्ष्णजी, श्रीनारदजी, श्रीहनुमान्जी अमानी दासोंके उदाहरण हैं। *'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना।'* (श्रीशरभङ्गजी), *'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आनकी॥'* (श्रीसुतीक्ष्णजी), *'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। एहि औसर सहाय सोइ होऊ॥'* (१। १३२। २, देवर्षि नारदजी), *'जदपि नाथ अवगुन बहु मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥……तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥ सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥'* (४। ३। १, श्रीहनुमान्जी)।—ये हैं अमानी दासोंके भाव। और श्रीशबरीजीको देखिये—*'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥'*— इन सब महाभागवतोंके अधिकार और इनकी दीनता देखनेमें बहुत प्रिय लगती है।

☞दीन बनना बड़ा कठिन है। बड़ा बनना सहज सुलभ है। पर बड़ाई ही तो परम हानि है, तथापि हम लोगोंको यही भाती है। दीन अमानी दासका सर्वश्रेष्ठ नमूना श्रीसुतीक्ष्णजी ही हैं।

टिप्पणी—१ *'बालक सुत सम दास अमानी'* इति। ज्ञानी भी अमानी होते हैं; (यथा—*'ज्ञान मान*

जहँ एकौ नाहीं ।' (१५। ७) और दास अमानी है एवं बालक सुतके समान है। बालकके मान नहीं होता है तथा दासको मान नहीं होता; यथा—*'सबहि मानप्रद आपु अमानी।'* (७। ३८। ४) मान दोनोंको खराब करता है। ज्ञानीका ज्ञान नष्ट करता है। यथा—*'मान ते ज्ञान पान ते लाजा।''''''''* (२१। १) और भक्तकी भक्तिका नाश करता है; यथा—*'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।'* (५। ३९) *'कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥'* (४। १५। ८)

टिप्पणी—२ *'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही'* इति। यथा—**'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।'** (गीता ३। ३७) अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला और महापापी है, यहाँ तू इसीको बैरी मान। नारदजीकी रक्षा काम और क्रोध दोनोंसे की थी, यथा—*'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।'* (१। १२६। ७), *'भयउ न नारद मन कछु रोषा।'* (१। १२७। १) वे फिर दोनोंके वश हो गये—हरि-इच्छासे, यथा—*'मम इच्छा कह दीनदयाला।'* इन शत्रुओंसे सदा रक्षा करते हैं; यथा—*'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।'* (१। १२६। ८) इसीसे नारदकी रक्षा की। जब *'गर्व उर अंकुरेउ भारी'* तब उसके उखाड़नेके लिये पुनः दोनोंके वश उनको करके उनका गर्व मिटाया।

प० प० प्र०—(क) काम क्रोधादिका प्राबल्य स्वयं भगवान्‌ने कहा है—*'मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ'* भुशुण्डिजी भी कहते हैं—*'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नुमाया प्रगट॥'* (७। ११५) (ख) अमानी भक्तोंकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं।—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।'* (ग) ज्ञानियोंके पीछे माया कैसी लगी रहती है, यह भी देखिये—*'छोरतग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥ कल बल छल करि जाइ समीपा। अंचल बात बुझावै दीपा॥'* उत्तरकाण्डमें श्रीनारदजी और श्रीब्रह्माजीके वचन जो गरुड़ जीके प्रति हैं वे देखनेयोग्य हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**', अतएव उन्होंने अर्जुनजीसे यही कहा है कि '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**'

टिप्पणी—३ *'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं'* इति। (क) अद्वैतमें ज्ञान है, द्वैतमें भक्ति है। यहाँ *'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं'* में भाव यह है कि अद्वैतमें द्वैत रखे; यथा—*'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (ख) *'नहिं तजहीं'* क्योंकि भक्ति होनेसे भगवान् रक्षा करते हैं, ज्ञान होनेसे रक्षा नहीं करते।

दोहा—काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥४३॥

अर्थ—काम, क्रोध, लोभ और मद आदि मोहकी प्रबल सेना है। उनमें भी मायारूपिणी स्त्री अत्यन्त घोर दुःख देनेवाली है॥४३॥

टिप्पणी—१ (क) *'काम क्रोध लोभादि'* में 'आदि' पद देकर षट्-विकारकी पूर्ति की। कामक्रोध दो शत्रु प्रथम कहकर (*'दुहुँ कहँ काम-क्रोध रिपु आही'*) अब इस दोहेमें षट्शत्रु गिनाये। अर्थात्—काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर और मोह। (ख) *'अति दारुन दुखद'* का भाव कि काम-क्रोधादि 'दुःखद' हैं। दारुण दुःखदका स्वरूप आगे दिखाते हैं। (ग) *'धारि'*=सेना। सेना शत्रुको लूटती है। ये जीवोंके उत्तम गुणोंको लूट ले जाते हैं। यहाँ काम प्रस्तुत है, अतः प्रथम उसीको कहा।

प० प० प्र०—*'अति दारुन दुखद माया रूपी नारि'* इति। स्त्रीके अतिरिक्त अन्य विषय स्वयं मनुष्यके पीछे नहीं लगते हैं, यह देखकर मानो मायाने स्वयं नारीका रूप ले लिया। माया स्वयं अजा है, अनंग है, अतएव स्त्रीका रूप धारण करके *'मैं और मोर'* का पाठ पढ़ाती है। कौमार्यमें

विषय-ममताका रूप लेती है और तारुण्यमें प्रत्यक्ष स्त्री बनकर अपने अंगसंगके लोभमें डालकर भुलाती हैं। मायारूपी स्त्री देखनेमें तो सुन्दर और सुखद है, पर है अति दारुण और दारुण दुःखद। श्रुति भगवती भी कहती है—'**स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणाम्**॥' (१०)……'**दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया**॥' (१३) (याज्ञावल्क्योप०)

नोट—विरक्तों भगवद्भक्तोंके उपयोगी जानकर हम यहाँ याज्ञवल्क्योपनिषद्के इस प्रसंगकी कुछ श्रुतियाँ उद्धृत किये देते हैं। अर्थ सरल है।

'**मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रल केऽङ्गपञ्जरे। स्नायुवस्थिग्रन्थिशालिन्यः स्त्रियः किमिव शोभनम्॥ त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ मेरुशृंगतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥ श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥ केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥ ज्वलना अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥ जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारीबडिशपिण्डिका॥ सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्**॥' (५—१४)

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥ १॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषै सब नारी॥ २॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका॥ ३॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥ ४॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहै सुखमंदा*॥ ५॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥ ६॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥ ७॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥ ८॥

दो०—अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिन जानि॥ ४४॥

शब्दार्थ—पलुहना=पल्लवित होना, हराभरा होना।

अर्थ—हे मुनि! सुनो। पुराण, वेद और सन्त कहते हैं कि मोहरूपी वनके लिये स्त्री बसन्तऋतु है॥ १॥ जप-तप नियमरूपी सारे जलाशयोंको स्त्री ग्रीष्मऋतु होकर पूरा सोख लेती है॥ २॥ काम, क्रोध, मद और मत्सर मेंढक हैं, इन्हें वर्षाऋतु होकर प्रसन्न करनेमें वह एक ही है॥ ३॥ समस्त दुर्वासनाएँ कुमुदका समुदाय (समूह) है, उनको यह सदा सुख देनेवाली शरद्ऋतु है॥ ४॥ समस्त धर्म† कमलोंका झुण्ड है वह मन्द सुखवाली उन्हें हिमऋतु होकर जला डालती है॥ ५॥ फिर ममतारूपी यवासका समूह स्त्रीरूपी शिशिरऋतुको पाकर हराभरा हो जाता है॥ ६॥ पापरूपी उल्लुओंके समूहको सुख देनेको स्त्री घोर अँधेरी रात है॥ ७॥ बुद्धि, बल, शील और सत्य ये सब मछलियाँ हैं और स्त्री बंसीके समान है। प्रवीण लोग ऐसा कहते

* 'देति दुख मंदा'—(का०)

† महाभारत वन पर्व अ० २०० में अनेक धर्मोंका वर्णन है।

हैं॥ ८॥ अवगुणकी जड़, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखोंकी खानि स्त्री है। हे मुनि! मैंने जीसे ऐसा जानकर इसी कारण तुमको रोका॥ ४४॥

नोट—इस प्रसङ्गमें 'भिन्नधर्मामालोपमा' और 'परम्परित रूपक' अलङ्कार हैं।

टिप्पणी—१ (क) दोहेमें जो कहा *'अति दारुन दुखद मायारूपी नारि',* अब उसी 'अति दारुण दुःखद'का स्वरूप दिखाते हैं। दोहावलीमें इसकी दारुणता यों कही है—*'जन्मपत्रिका बरति कै देखहु हृदय बिचारि। दारुन बैरी मीच के बीच बिराजति नारि॥'* (२६८) (यह दोहा और उसका अर्थ पूर्व आ चुके हैं)

(ख) *'सुनु मुनि'* से जनाया कि एक बात समाप्त हो गयी, यह दूसरी बात है। पुनः भाव कि तुम मननशील हो, वेदादिके मनन करनेवाले हो, अतः मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो।

प० प० प्र०—१ *'सुनु मुनि कह पुरान.........'* इति। (क) प्रत्यक्ष परमेश्वर होते हुए भी यह नहीं कहते कि मैं अपना मत कहता हूँ, किन्तु कहते हैं कि श्रुति, पुराण और सन्त जो कहते हैं वह कहता हूँ। इससे यह भी जनाया कि इसमें पुराण, श्रुति और सन्त तीनोंका ऐकमत्य है। (ख) श्रुतिको पुराण और संतके बीचमें रखकर बताया कि जिन श्रुतियोंका पुराण और सन्तोंके मतमें समन्वय होगा वह ग्राह्य हैं और उनके अनुकूल ही चलना चाहिये। श्रुतिका अर्थ पुराण और इतिहाससे स्पष्ट किया गया है। तथापि पुराणोंमें भी बहुशः परोक्षवाद ही होनेसे पुराणोंका भी यथार्थ मर्म संत ही जानते हैं। इसीसे संतलक्षणोंमें *'बोध जथारथ बेद पुराना॥'* (४६। ६) ऐसा कहा गया है। भक्तशिरोमणि तुकारामजी भी कहते हैं—**'बेदांचा तो अर्थ आम्हां सींच ठाबा। दुजानीं वाहावा भारमाथां'** (हम संत लोग ही वेदोंका मर्म यथार्थ जानते हैं। दूसरे तो केवल शिरसे बोझा ढो रहे हैं)।

टिप्पणी—२ *'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता'* इति। इस रूपकको समझनेके लिये वसन्त ऋतु और विपिनका अन्योन्य सम्बन्ध जान लेना चाहिये। वसन्तागमनके पूर्व जो वृक्षादि सूखे मरे हुएसे देखनेमें आते थे वे ही वसन्तागमनसे पल्लवित, प्रफुल्ल और फलित हो जाते हैं। उनको जल आदिकी आवश्यकता नहीं रहती। पल्लव फूल फल आनेसे पक्षी, भ्रमर, अहिंस्र तथा हिंस्र पशु भी वहाँ आ जाते हैं। इसी तरह पत्नी-परिग्रह करनेपर घर, धन धान्य, वस्त्र, पात्रकी आशारूपी पत्तियाँ उसमें फूटती हैं। पुत्रप्राप्ति-कामनारूपी फूल और मान, बड़ाई प्रतिष्ठा आदिकी कामनारूपी फल लगते हैं। सास ससुर इत्यादि पक्षी और भौंरें इकट्ठे होते हैं। पुत्र, कन्या, जामाता आदि अहिंस्र पशुओंकी भीड़ लगती और काम क्रोधादि सिंह, वृक, शूकर आदि हिंस्र पशुओंका वह मनुष्य शिकार बन जाता है। इसी प्रकार इस रूपकका विशेष विस्तार किया जा सकता है। वसन्तऋतुका वर्णन पूर्व आ ही चुका है।

टिप्पणी—३ *'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता'* इति। (क) मोह सबका राजा है, यथा—**'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार.........'**, *'जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआल। करत अकंटक राज पुर सुख संपदा सुकाल॥'* (अ० २३५) और वसंत ऋतुराज है। राजा अपने दलको सदा बढ़ाया ही करता है, वैसे ही मोह वृद्धि करनेमें वसन्त समान है। पुनः, (ख) मोहको इससे भी प्रथम कहा कि मोह ही अन्य सब विकारोंका मूल है, यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (७। १२१। २९) अतएव स्त्रीके सङ्गसे सबसे प्रथम मोहकी वृद्धि कही। (ग) यहाँ स्त्रीका स्वरूप वसंत आदि छहों ऋतुओंसे बाँधा है। ऋतु रजोधर्मको भी कहते हैं और ऋतुमती स्त्रीको शास्त्रमें सर्वथा त्याज्य कहा है। रजोधर्मके समय उसका स्पर्श, उसका सङ्ग ब्रह्म-हत्यादि पातकोंका भागी करता है और आयुर्वेद भी मना करता है। यहाँ भगवान् नारदजीको वैराग्यमें दृढ़ करनेके लिये स्त्रीत्यागका उपदेश दे रहे हैं, अतः 'ऋतु' का रूपक दिया। भाव कि विरक्त संतोंको वह सर्वथा त्याज्य है। (घ) स्मरण रहे कि यहाँ जो-जो अवगुण

दिखा रहे हैं वे सब नारदजीमें प्राप्त हो गये थे, अतः उन्हीं-उन्हींको यहाँ लिया। आगे मिलानके नकशेसे सब स्पष्ट हो जायगा।

टिप्पणी—४ '*जप तप नेम जलासय झारी*.........' इति। (क) गंभीर जलाशय ग्रीष्ममें भी नहीं सूखते और सब तो सूख जाते हैं, परइनमें जल बना रह जाता है। अतएव यहाँ '*झारी*' शब्द दिया। अर्थात् स्त्रीरूपी ग्रीष्मऋतुसे जपतपादि कोई भी नहीं बचते, वह सबको झारिकै (निपट, सम्पूर्ण, झाड़-पोंछकर) सोख लेती है कि बूँदभर भी न रह जाय। (ख) जैसे सब जलाशय सूखकर भ्रष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जपतपनियमादिके नष्ट होनेसे लोग भ्रष्ट हो जाते हैं। (ग) यहाँ '*जप तप नेम*' तीन ही नाम दिये, क्योंकि जलाशय भी तीन ही प्रकारके हैं—'*कर्मकमंडल कर गहे*.........*सरिता कूप तड़ाग।*' (घ) '*झारी*' का भाव यह भी है कि क्रियमाणकी कौन कहे संचितको भी नष्ट कर देती है।

टिप्पणी—५ कामक्रोधादि चारको मेंढक कहा, क्योंकि मेंढक भी ४ प्रकारके होते हैं। '*हरषपद*' क्योंकि ग्रीष्ममें टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और प्रथम वर्षा पाते ही जी उठते हैं, टरटर मचाने लगते हैं। वैसे ही मुये हुए मनमें भी कामादि स्त्रीको पाकर जग उठते हैं।

टिप्पणी—६ (क) '*दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद*.........' कहकर तब '*धर्म सकल सरसीरुह*' कहा, क्योंकि कुमुद भी कमलकी ही एक जाति है। [स्त्रीकी प्रसन्नताके लिये अनेक उपाय ही दुर्वासनाएँ हैं। (खर्रा)] (ख) '*होइ हिम दहइ तिन्हहिं सुखमंदा*'— 'सुखमंदा स्त्रीके लिये है अर्थात् यह नीच सुख देनेवाली है। ['उन्हें निकम्मा सुख देती है अर्थात् प्रत्यक्षमें शीतलता सुख प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें उसीसे कमल जल जाता है।' (वीरकवि) पुनः भाव कि द्रव्य आदि नारीसे ही नहीं बच पाता, तब बिना द्रव्य धर्म कहाँसे हो सके। (खर्रा)]

टिप्पणी—७ '*पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ*.........' इति। शिशिरऋतुमें यवास बहुत बढ़ता है, वैसे ही स्त्रीके द्वारा ममता बढ़ती है। पहले कामादिकी हर्षप्रद वर्षा हुई, अब पुत्र-पुत्रादि स्त्रीद्वारा हुए, उनमें ममत्व बढ़ा। (खर्रा) यहाँ षट् ऋतु पूर्ण हुए।

टिप्पणी—८ '*पाप उलूक*' पापको उल्लू कहा क्योंकि चोरी, व्यभिचार आदि अनेक पाप रात्रिमें ही हुआ करते हैं और उल्लू भी रातमें ही विचरता है।

टिप्पणी—९ '*बंसी सम*', यथा—'**विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ। येनाचिरात्तदधरामृतलोलमर्त्यमत्स्यान्विकृष्य पचत्यनुरागवह्नौ॥**' (भर्तृहरिशृङ्गारशतक ८२) 'बुद्धि, बल, शील, सत्य चारको मछली कहा, यथा—'*धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥*' स्त्री-पुरुषको फाँसकर फिर एक-एक करके सब गुणोंको बाहर निकाल फेंकती है, जैसे लोग वंशीसे मछलीको फाँसकर निकाल लेते हैं।

नोट—☞ १ '*मोह बिपिन कहँ नारि बसंता*' से लेकर '*बंसी सम त्रिय*.........' तकका सारांश यह है कि मोहके होनेसे जप-तपका नाश हुआ, जप-तपके नाशसे काम-क्रोध-मद-मत्सर बढ़े। इनके बढ़नेसे धर्मका नाश हुआ, धर्मके नाशसे ममता बढ़ी। ममत्वके बढ़नेसे पापकी वृद्धि हुई और पापकी वृद्धिसे बुद्धि-बल-शील सत्यका विनाश हुआ। इसीसे मोह, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि और जप, तप, नेम, धर्म आदि इस क्रमसे कहे गये।

नोट—२ छः चौपाइयोंमें छः ऋतु कहकर अन्तमें दो और भी चौपाइयाँ रखीं, जिनमें पाप-उलूक और बुद्धि, बल आदि मीनको कहा। भाव कि पाप-उलूकका वास मोह-विपिनमें रहता है और बुद्धिबलशीलसत्यरूपी मछलियोंका निवास जपतपनियमरूपी जलाशयोंमें रहता है। इससे इनको भी कहा।

श्रीगौड़जी—इस समस्त प्रसङ्गमें '*नारि*' की व्यक्तितापर आक्षेप नहीं है क्योंकि '*नारि*' शब्दके अन्तर्गत

ऐसी व्यक्तियाँ भी शामिल हो सकती हैं जिनसे कि ये सारे विषयसम्बन्धी दोषका कोई लगाव नहीं, प्रत्युत उनके स्मरणसे यह दोष दूर हो सकता है। इस स्थलपर *'नारि'* शब्दसे भाव है *'काम प्रवर्तिनि नीच वासना'* जिसपर नारि शब्दका लक्ष्य है। इसीसे अन्तमें *'प्रमदा'* शब्द दिया गया है। जो अरसिक पाठक इसे नारि-जातिकी निन्दा समझते हैं वे *'नारि'* शब्दके लक्ष्यार्थपर ध्यान नहीं देते और उसका अर्थ काम-वासना प्रवृत्तिमात्र नहीं लगाते।

टिप्पणी—१० ***'प्रमदा सब दुखखानि'*** यथा—**'सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सर्वेष्वतितथ्यमेतत्। नान्यं मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखस्य हेतुर्नहि कश्चिदन्यः॥'** (भर्तृहरिशृङ्गारशतक) प्रमदा नाम देकर जनाया कि सब कालमें मदमें भरी हुई मतवाली रहती है।

☞ *'ताते कीन्ह निवारन'* इति। स्त्रीसङ्गके दोष कहकर दूसरेको तो उससे निवारण करते हैं और स्वयं विरही हैं, यह तो वही हुआ कि ***'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'*** यह प्रसङ्ग यहाँ वक्ताओंने कहकर सूचित किया कि वस्तुतः श्रीरामजी विरही नहीं हैं, उनका विरह लीलामात्र है। नारदका प्रश्न था ***'केहि कारन प्रभु करै न दीना',*** इसीसे कहते हैं कि *'ताते.......'* अर्थात् इस कारणसे।

टिप्पणी—११ जो स्त्रीमें दोष गिनाये हैं वे सब नारदमें स्त्रीकी इच्छा करते ही प्राप्त हो गये थे, यह निम्न नकशेसे स्पष्ट देख पड़ेगा—

स्त्रीमें आसक्ति होनेपर दोष	श्रीनारदजीमें चरितार्थ
'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता।	१ *'मुनिहि मोह मन हाथ पराए।'* (१। १३४। ५) *'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।'* (१। १३५। ५)
'जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥'	२ *'जप तप कछु न होइ तेहि काला'* (१। १३१। ८)
'काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहिं हरषप्रद बरषा एका॥'	३ *'हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।'* (१। १३१। ८) (काम है) *'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।'* (१। १३६। ६) *'फरकत अधर कोप-मन माहीं।'* (१। १२६। २) (क्रोध), *'जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई॥'* (१। १३४। १) (मद), *'मुनिमन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें॥'* (१। १३३। ६) (मत्सर)*
'दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कह सरद सदा सुखदाई॥'	४ *'करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी॥'* (१। १३१। ७) योगीके लिये यह दुर्वासना है।
'धर्म सकल सरसीरुहबृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहै सुखमंदा॥'	५ *'पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेसी॥ मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान करायेहु॥ असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु। स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु॥'* (१। १३६) इत्यादि कठोर वचन कहनेसे सकल सेवक-धर्म नष्ट हुए।
'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥'	६ *'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी॥'* (१। १३५। ५) यह ममता है।
'पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड रजनी अँधियारी॥'	७ *'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे॥'* (१। १३८। ४) यह पाप है।

* रामायणीजीकी टिप्पणीमें यह उदाहरण 'मद' का है। मत्सरका उदाहरण—'संग रमा सोइ राजकुमारी।' देकर 'पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी॥'—यह दिया है और कहते हैं कि अपना मत्सर विष्णुमें आरोपण किया है।

'बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम तिय कहहिं प्रबीना॥'

८ *'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परहिं बुद्धि भ्रमसानी॥'* (१। १३४। ६) यह बुद्धिका नाश है, *'अति आरत कहि कथा सुनाई। करहु कृपा हरि होहु सहाई॥'* (१। १३२। ५) यह बलका नाश है। *'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे'* यह शीलका नाश है। *'कछुक बनाइ भूपसन भाषे।'* (१। १३१। ५) यह सत्यका नाश है।

सुनि रघुपति के बचन सुहाए। मुनि तन पुलक नयन भरि आए॥ १॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥ २॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥ ३॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिग्यान बिसारद॥ ४॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भवभंजनभीरा॥ ५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके सुन्दर वचन सुनकर मुनिका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में आँसू भर आये॥ १॥ (वे मनमें सोचने लगे) कहिये तो किस स्वामीकी ऐसी रीति है? किसका सेवकपर इस प्रकार ममत्व और प्रेम है॥ २॥ जो लोग भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभुको नहीं भजते वे ज्ञानरंक (ज्ञानके दरिद्र या कंगाल, ज्ञानरहित, ज्ञानशून्य) मन्द बुद्धि और अभागे हैं॥ ३॥ फिर नारदमुनि आदरपूर्वक बोले—हे विज्ञान-विशारद श्रीरामजी सुनिये॥ ४॥ हे रघुकुलवीर! हे भव-भयके नाश करनेवाले! हे नाथ! अब करुणा करके सन्तोंके लक्षण कहिये॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता'* उपक्रम है और *'सुनि रघुपतिके बचन'* उपसंहार। [*'सुनि रघुपतिके बचन सुहाए'* इति। वचन *'सुहाए'* हैं; क्योंकि इनमें प्रभुका निर्हेतुक हितकारी स्वभाव वर्णित है। सेवककी अकल्याण, दुःख दैन्य, अधःपात इत्यादि संकटोंसे माताकी तरह रक्षा करते हैं, यह जानकर जीव यह जान लेगा कि उसका हित क्या है और किसमें है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती·······'* इति। [*'असि रीती'*— भाव कि सेवककी गाली, शाप, क्रोध इत्यादि शान्त चित्तसे सहन भी कर ले और सेवकका परमहित करे ऐसा सारे संसारमें कोई नहीं है। सन्त भगवंतमें अभेद है। *'संत सहहिं दुख पर हित लागी।'* *'भूर्जतरू सम संत कृपाला। पर हित नित सह बिपति बिसाला॥'* (प० प० प्र०)] मिलान कीजिये—*'सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'* (७। १६) अपने सेवककी सेवा माताकी तरह करते हैं, यह रीति इन्हींकी है और स्वामी तो सेवकको नीच दृष्टिसे देखते हैं।

टिप्पणी—३ *'जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यानरंक·········'* इति। भ्रमको छोड़कर प्रभुका भजन करना कहा। भ्रमसे ज्ञानका नाश होता है; यथा—*'प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा।'* (७। ५९। १) यह भजनका बाधक है; यथा—*'भ्रम तजि भजहु भगतभयहारी।'* (५। २२) *'न भजहिं'* से उपासनारहित, *'ज्ञानरंक'* से ज्ञानहीन और *'मंद'* से कर्महीन अर्थात् त्रिकाण्डरहित जनाया, अतएव अभागी हुए।

टिप्पणी—४ *'पुनि सादर बोले'* से पूर्व प्रसङ्गकी समाप्ति जनायी। श्रीनारदजी अभीतक अपकार ही जानते रहे अब स्वामीके कथनसे जाना कि हमारे साथ बड़ा भारी उपकार किया। *'बिग्यान-बिसारद'* का भाव कि आपका ज्ञान अखण्ड एकरस है, कोई उसका अवरोधक या विनाशक नहीं है। (श्रीकान्तशरणजीका मत है कि *'बिग्यान-बिसारद'* विशेषणका भाव यह है कि 'ये जो प्रश्न करेंगे उसका उत्तर विज्ञानकी दृष्टिसे चाहते हैं। प्रकृति-वियुक्त जीवात्माके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। जैसे *'तब बिज्ञानरूपिनी'*······· से, *तेजरासि बिज्ञानमय।'* (७। ११७)

तकसे स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी संत लक्षण कहेंगे। उन्हींका ग्रहण करना विज्ञान साधन है।')

नोट—१ *'संतन्हके लच्छन रघुबीरा। कहहु……'* इति। नारीरूपी षड्ऋतुवर्णनके प्रारम्भमें ही *'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।'* (४४। १) ये प्रभुके वचन हैं। इनमें *'संत'* शब्द आ जानेसे यह जिज्ञासा खड़ी हो गयी कि *'संत'* के लक्षण भी इस सुअवसरपर पूछ लेने चाहिये, अतः मुनिने पूछा। ☞यह वक्ताकी कला है, वह कुछ ऐसे शब्द कह देता है जिससे यह पता चल जाता है कि श्रोता मन-बुद्धि-चित्त लगाकर सुन रहा है या नहीं। जैसे शङ्करजीने कहा था *'कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़।'* (१। १२०) इसीपर अन्तमें पार्वतीजीने इस सम्बन्धमें प्रश्न किया। गरुड़जीके सप्त प्रश्न भी इसी कलासे प्रादुर्भूत हुए हैं। (प० प० प्र०)

नोट—२ ☞सन्तोंके लक्षण पूछनेमें भाव यह है कि हम अपने नित्य देखा करें कि कौन-कौन लक्षण हममें नहीं हैं जिनका हम भगवान्‌के प्रिय होनेके लिये उपार्जन करते रहें। ☞दूसरोंकी परीक्षा लेनेके लिये लक्षणोंका ज्ञान करना निरर्थक है। क्योंकि सन्तोंके गुण अनंत हैं। श्रीएकनाथजी महाराज भागवत एकादशस्कन्धकी टीकामें लिखते हैं कि सन्तोंके लक्षणोंकी पोथी हाथमें लेकर कोई उनकी परीक्षाके लिये त्रैलोक्यमें भले ही घूमे तो भी उसे कोई सन्त मिलेगा ही नहीं। *'मियां न सांगितल्या लक्षणांची पोथी। जो कोणी धेवनियाँ हातीं हिंडेल जरी त्रिजगती। तरी न सांपड़ती संत।'* यह भगवान्‌का वाक्य है।

वि० त्रि०—सरकारके दिये हुए उपदेश सुननेपर नारदजीके हृदयमें प्रभुके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति बढ़ी, वे सोचने लगे कि ऐसे भक्तवत्सलको जो नहीं भजते वे अज्ञानी अभागी हैं। भाग्यवान् भजन करनेवाले सन्तलोग हैं, अतः भगवान्‌के मुखसे ही उनके भक्त सन्तोंके गुण सुनना चाहिये, जिसके जान लेनेसे, उनकी प्राप्तिके लिये सदा यत्नशील होनेका सौभाग्य प्राप्त हो, अतः नारदजी सन्तोंके लक्षण पूछते हैं।

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ॥ ६॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥ ७॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी॥ ८॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्मगति परम प्रबीना॥ ९॥

दो०—गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥ ४५॥

शब्दार्थ—*षट विकार*—'षट् विकार' कौन हैं, इसमें मतभेद है। १ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। २ पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और मनके मलिन व्यवहार। ३ **'अस्ति जायते वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति'** (प्र०)। ४ क्षुधा, प्यास, हर्ष, शोक, जन्म, मरण। ५ प्राणीके छः विकार या परिणाम अर्थात् उत्पत्ति, शरीर-वृद्धि, बालपन, प्रौढ़ता, जरा, मृत्यु।

अर्थ—मुनि! सुनिये, सन्तोंके गुणोंको कहता हूँ जिन गुणोंसे मैं उनके वशमें रहता हूँ (अर्थात्) गुण तो अनन्त हैं, पर मैं केवल इन्हींको कहता हूँ॥ ६॥ छहों विकारोंको जीते हुए, निष्पाप, निष्काम, चंचलतारहित (स्थिर चित्त), अकिंचन, पवित्र सुखके स्थान॥ ७॥ अमित (जिसका अटकल नहीं किया जा सकता। असीम) ज्ञानवाले, चेष्टारहित, अल्पभोगी (स्वल्पाहारी), सत्यके साररूप (प्रियसत्यवादी) कवि, पण्डित, योगी॥ ८॥ (सदा कर्तव्यमें) सावधान, दूसरोंको मान देनेवाले, स्वयं मान-मदरहित (वा, मादक पदार्थोंसे अलग रहनेवाले होते हैं। (पं० रा० कु०) धीर, धर्मकी गतिमें बड़े चतुर॥ ९॥ गुणोंके घर, संसारके दुःखों वा संसाररूप दुःखसे रहित और संदेहसे विशेषरहित होते हैं। मेरे चरण-कमलोंको छोड़कर उनको न देह ही प्रिय है न घर ही॥ ४५॥

टिप्पणी—१ *'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ।'''''''बस रहऊँ'* इति। (क) *'सुनु मुनि'*— यहाँ पुनः, *'सुनु'* शब्द देकर पूर्व प्रसंगकी समाप्ति और नवीन प्रसंगका प्रारम्भ जनाया। (ख) *'गुन कहऊँ'* और *'बस रहऊँ '* से जनाया कि इन गुणोंसे मैं उनके वश हो जाता हूँ, इन गुणोंमें मैं बँध जाता हूँ। गुण सूतको भी कहते हैं मानो ये गुण रस्सीरूप हैं जो मुझे बाँध लेते हैं। [नारदजीने सन्तोंके लक्षण पूछे, यथा—*'संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु'''''''* और श्रीरामजी कहते हैं *'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ'* और *'सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते।'* (४६। ८) इससे संत और साधु, लक्षण और गुणको पर्याय जनाया। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'षट-विकार जित'*। षट् विकारकी षट्शत्रु संज्ञा है, अतः *'जित'* पद दिया। [षट्विकारजित, अकाम और अनीहमें द्विरुक्ति स्पष्ट है, क्योंकि षट् विकारमें अकामका अन्तर्भाव है। यदि अकामका अर्थ निष्काम, इच्छारहित लें तो भी पुनरुक्तिसे बचना असम्भव है, क्योंकि *'अनीह'* शब्दसे यही अर्थ प्रतिपादित है। लोभमें इच्छाका अन्तर्भाव होता ही है। इसी तरह और भी द्विरुक्तियाँ इस गुणगणवर्णनमें मिलेंगी। तथापि यह द्विरुक्ति दोष नहीं है, भूषण है। इस द्विरुक्तिमें एक सुन्दर भाव यह प्रकट हो रहा है कि श्रीरामजी अपने भक्तोंके गुणवर्णनमें इतने प्रसन्न हो गये हैं कि पूर्वापर-संदर्भ भी भूल गये—'**विषादे विस्मये कोपे हर्षे दैन्येऽवधारणे। प्रसादेचानुकम्पायां पुनरुक्तिर्न दूष्यते॥**' यहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है। (प० प० प्र०)

नोट—१ *'अचल'* धर्ममें। एवं राग-द्वेषादिसे विचलित न होनेवाले। (प्र०) *अकिंचन* अर्थात् धन-संपत्ति आदि स्वर्गादि सभीके संग्रहसे रहित। (प्र०) अपने पास कुछ नहीं रखते। (प्र०) *'तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥'* (१। १६१। ३) देखिये। *शुचि*=मन-वचन-कर्मसे पवित्र। *'अमितबोध'*=आत्मज्ञानी (पं० रा० कु०)=अपार ज्ञानवाले (प्र०)। [भगवान् अमित एवं अप्रमेय हैं, उनका बोध रहनेसे सन्त अमितबोध कहलाते हैं, क्योंकि भगवान्‌के जाननेपर फिर कुछ भी जानना नहीं रह जाता। (श्रीकान्तशरणजी)] *मित भोगी*=शरीरका निर्वाहमात्र करनेभरको, यथा—'**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥**' (गीता ६। १७) अर्थात् नियमित आहार-विहारवालेका, कामोंमें नियमित चेष्टा करनेवालेका और नियमित सोने तथा जागनेवालेका दुःखनाशक योगसम्पन्न होता है। यश-वर्णनमें कवि, शास्त्रादिके ज्ञानमें कोविद (पण्डित, अष्टाङ्गयोगयुक्त एवं सदा भगवत्‌में चित्तकी वृत्ति रखनेमें योगी। 'सत्यसार'=सत्यके साररूप=सत्यनिष्ठ। =सत्यको साररूप जाननेवाले—(प्र०) *सत्यसार कबि*=सत्यका जो सार है उसके कवि; अर्थात् सत्य ही कहते हैं। (बै०) *'सावधान'* अर्थात् व्यवहार और परमार्थमें सदा अपने मनको देखते रहते हैं जिसमें विषयादिके वशमें न हो जायँ। *'धीर धरम गति परम प्रबीना'*— धर्मकी गति बहुत सूक्ष्म है। उसके जानने और करनेमें परम प्रवीण हैं। 'धीर', यथा—*'ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किए।'* (पार्वतीमङ्गल। १५) पुनः *'धीर'* अर्थात् दुःख-सुखसे मन चञ्चल नहीं होने पाता।

'गुणागार' से जनाया कि जो गुण गिनाये ये ही नहीं वरन् गुणसमूह हैं मानो गुणोंके घर ही हैं; सब गुण यही वास करते हैं। *'संसार दुःखरहित'*, यथा—*'ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला।'* *'संसारदुःखरहित'* से जनाया कि वे आत्माको देहसे पृथक् जानते हैं, दुःख है तो यही कि भजन नहीं होता। *'बिगत संदेह'* का भाव कि जिस मार्गपर कल्याणके लिये चलते हैं, उसमें कुछ सन्देह नहीं कि हमारा कल्याण होगा कि नहीं। *'देह न गेह'* का भाव कि मैं-मेरा सभी त्याग किये हैं, किसीमें ममत्व नहीं है। यथा—*'राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृन तोरें॥'* (२। ७०। ६, श्रीलक्ष्मणजी)

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥ १॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥ २॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुर गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥ ३॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥ ४॥

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥५॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥६॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥७॥
मुनि सुनु* साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥८॥

शब्दार्थ—**सम**=अन्तरिन्द्रियनिग्रहवान्=सबको समान देखनेवाले। **अमाया**=कपटरहित, दिखावेका नहीं। **दम**=बाह्येन्द्रियनिग्रह। **हेतुरहित**=बिना कारण, बदलेकी चाहसे नहीं।

अर्थ—कानोंसे अपने गुण सुनते ही सकुचाते हैं, दूसरोंके गुण सुनकर बहुत खुश होते हैं॥१॥ सम और शीतल हैं। नीतिको नहीं छोड़ते। सरल स्वभाव, सभीसे प्रेम (अर्थात् वैर किसीसे नहीं) रखते हैं॥२॥ वे जप, तप, व्रत, दम संयम और नियममें रत रहते हैं। गुरु, भगवान् और विप्रचरणमें प्रेम रखते हैं॥३॥ उनमें श्रद्धा, क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता, और मेरे चरणोंमें कपटरहित प्रेम होता है॥४॥ वैराग्य, विवेक विशेष नम्रता, विज्ञान, वेद-पुराणोंका यथार्थ (ठीक) ज्ञान—ये गुण उनमें होते हैं॥५॥ वे दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते, और बुरे रास्तेपर तो भूलकर भी पैर नहीं देते॥६॥ सदा मेरे चरित कहते-सुनते हैं, बिना कारण परोपकारमें तत्पर रहना उनका स्वभाव है॥७॥ हे मुनि! सुनिये, साधुओंके जितने गुण हैं उनको शारदा और वेद भी नहीं कह सकते (कि ये यही हैं)॥८॥

टिप्पणी—१ (क) *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं'* अर्थात् वे गुणागार हैं उनकी प्रशंसा जो करता है वह झूठ नहीं करता, पर तो भी सुनकर उन्हें संकोच होता है। जो गुणहीन हो वह सकुचे तो ठीक ही है। पुनः, भाव कि निजके हर्ष शोकसे रहित हैं। (ख) *'पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं'* अर्थात् जैसे-जैसे सुनते हैं तैसे-तैसे अधिक हर्ष होता है। (ग) 'सम' शत्रु-मित्रके विषयमें। 'शीतल' अर्थात् दुष्टके वज्रवचन सहनेमें गर्म नहीं होते। *'नहिं त्यागहिं नीती'* अर्थात् कैसा ही अवरेब पड़ जाय नीति नहीं छोड़ते। यथा—*'कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग।'* (६। ३३) 'सरल'= कपट-छल-रहित, किसीसे क्रूर नहीं। (घ) *'जप तप……पद प्रेमा'* इति। प्रेमका अन्वय सबमें है। जप-तप आदि सबमें प्रेम है।

प० प० प्र०—१ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ये चार प्रकार हैं जिनसे साधकोंको इस जगत्‌के विभिन्न प्रकृतिके व्यक्तियोंमें व्यवहार करना चाहिये। यहाँ जो लक्षण गिनाये हैं उनमें 'उपेक्षा'का उल्लेख नहीं है, कारण कि संत किसीकी भी उपेक्षा नहीं करते हैं। यह है परमोच्च आदर्श। दुर्जनोंसे व्यवहार करनेमें साधकोंको उपेक्षावृत्ति रखनी चाहिये। भुशुण्डिजीने भी कहा है-*'खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥ उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥'* (७। १०६। १४-१५) भगवान्‌ने भी कहा है—*'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥'* (५। ४६। ७)—पर यहाँ मुनिसे जो गुण कहे हैं वे सन्तोंके गुण हैं साधकोंके नहीं। *'मुदिता'*—बराबरवालोंके साथ मुदितावृत्तिसे व्यवहार करना चाहिये—*'पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।'* करुणा—दोनोंपर, अपनेसे जो नीची भूमिकापर हों उनके साथ करुणा—*'कोमल चित दीनन्ह पर दाया', 'साधवो दीनवत्सलाः।'* यह लक्षण साधकोंके लिये भी है। सन्त तो दुर्जनोंसे भी करुणावृत्तिसे ही बर्ताव करते हैं। मैत्री—जो अपनेसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि पारमार्थिक गुणोंमें श्रेष्ठ हों उनके साथ मित्रता रखते हैं। यथा—*'कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ। तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाबिष होइ॥'* (दो० ३२३) *'बड़ो गहे ते होत बड़ ज्यों वावन कर दंड। श्री प्रभुके संग सो बढ़ो गयो अखिल ब्रह्मंड॥'* (दो० ५३२) श्रेष्ठोंके साथ मित्रता होनेसे अभिमान

* 'सुनु मुनि' (का०)।

न होने पायगा और उच्च भूमिकाका अनुकरण सुलभ होगा। बराबरवालोंसे मुदिता होनेसे मत्सर, द्वेष, स्पर्धा आदि दोषोंकी उत्पत्ति न होगी।

प० प० प्र०—२ *'मम पद प्रीति अमाया'* इति। ऊपर *'गोविंद पद प्रेमा'* से भगवान‌्के चरणोंमें प्रेमका कथन तो हो गया। *'गोविंद गोपर द्वंद्वहर।'* (३२ छंद) से रघुनाथजीका 'गोविन्द' होना सिद्ध हो चुका है। तब यहाँ *'मम पद प्रीति'* क्यों कहा गया? उत्तर—*'गोविंद'* से यहाँ वेदान्तवेद्य निर्गुण ब्रह्म कहा और *'मम'* कहकर बताया कि भगवान‌्में इस भावनासे प्रेम करे कि जो वेदान्तवेद्य निर्गुण ब्रह्म हैं वही सगुण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हैं। (अथवा, जनाया कि वह गोविन्द मैं ही हूँ, दूसरा नहीं) अथवा, भगवद्भक्ति-प्रीतिका विवेचन करनेमें परमानन्दके कारण पुनरुक्तिका भान न रहा।

प० प० प्र०—३ (क) विवेक=सत्-असत्‌का ज्ञान। विज्ञान=सर्वात्मभाव। बोध=श्रुति-स्मृतिमें निस्सन्देह होनेका भाव। (पं० रा० कु०)=प्रकृतिवियुक्त आत्माका ज्ञान। (श्रीकान्तशरण) (ख) *'बोध जथारथ बेदपुराना',* कवि कोविद योगी, अमित बोध, धर्मगति परम प्रवीण—इन गुणोंकी आवश्यकता सन्तोंमें नहीं है। इनकी आवश्यकता मान लेनेपर शबरी, गीध, विभीषण आदि अनेक महापुरुषोंकी गणना सन्तोंमें नहीं होगी। शबरीजी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं थीं तब कवित्व-पाण्डित्य कहाँसे आयी? भीलिनी होनेसे वेदका यथार्थ ज्ञान भी नहीं हो सकता था—ये सब सद्‌गुरुके लक्षण हैं सद्‌गुरुको इन सबोंकी आवश्यकता है—**'स गुरुमेवोपगच्छेत्‌……श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** (श्रुति)। अरण्यकाण्डके मं० श्लोक १ मे सद्‌गुरुलक्षण ध्वनित किये हैं और यही उपसंहारमें भी सद्‌गुरुके लक्षण कहे हैं। गुरुकी कृपाके बिना महामोह-संशय-भ्रमका निराश नहीं हो सकता, इसीसे इस काण्डमें गुरुका वैशिष्ट्य ही जहाँ-तहाँ बताया गया है। महाराष्ट्रमें सेनान्हावी, गोरा कुम्हार, रोहीदास चमार, चोखामेलाम्हार, जनाबाई, बहिणाबाई, वेड़ाबाई बड़े-बड़े सन्त भगवद्भक्त हो गये। उनमेंसे किसीको *'बोध जथारथ बेद पुराना'* का अधिकार शास्त्रविधिसे था ही नहीं और वे शास्त्राज्ञा माननेवाले भी थे। [मेरी समझमें सन्तलक्षणमें *'कबि कोबिद बोध जथारथ बेद पुराना'* इत्यादि जो कहा है वह ठीक ही कहा है। भगवान् शङ्कर कहते हैं—*'श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना। सोइ कबि कोबिद……जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा॥'* (७। १२७) श्रीरामजीके चरणोंमें निश्छल अविरल-अमल अनुराग करे यही श्रुति-सिद्धान्त है जो वे यथार्थ जानते हैं—*'श्रुति सिद्धान्त इहै उरगारी। भजिय राम सब काम बिसारी॥'*]

टिप्पणी—२ *'दंभ मान मद करहिं न काऊ'* यहाँ कहा और पूर्व कहा था कि *'सावधान मानद मदहीना'* इस प्रकार इस प्रसङ्गमें 'मद' की पुनरुक्ति हुई है। कारण कि बाह्य-अन्तरके भेदसे ऐसा कहा गया। दम्भ और मानके योगसे यहाँ अन्तःकरणका मद जनाया और पूर्व सावधानके योगसे बाह्य मद सूचित किया अर्थात् कोई मादक अमलका सेवन नहीं करते। (पूर्व लिखित प० प० प्र० का टिप्पणी भी देखिये।)

टिप्पणी—३ *'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित……।'* इति। (क) सदा गाते सुनते हैं, क्योंकि *'मम लीला रति अति मन माहीं।'* (१६। ८); यह नवधाभक्तिकी दो भक्तियाँ हैं। (ख) 'हेतुरहित' दीपदेहरी है। *'गावहिं सुनहिं……हेतु रहित'* अर्थात् द्रव्यकी लालचसे नहीं। [जैसे आजकल प्रायः (काशीजी ऐसे पुण्यप्रदेशोंमें भी और अब अयोध्याके साधुओं में भी यह अवगुण आ चला है) व्यासलोग ठहरौनी कराके कथा कहते हैं, वैसा नहीं, धनके लोभसे नहीं कहते-सुनते]। और *'हेतुरहित परहितरतसीला'* अर्थात् परोपकार भी बिना किसी कारणके करते हैं; यथा—*'पर उपकार बचन मन काया।'* (७। १२४। १४) परहितमें तत्पर रहते हैं; यथा—*'पर हित सरिस धरम नहिं भाई।'* (७। ४१। १) दूसरे यह इनका सहज स्वभाव है। (ग) स्वयं गाते हैं और दूसरेसे सुनते भी हैं, यह नहीं कि अभिमानसे समझते हैं कि हमारे समान दूसरा नहीं, हम किससे सुनें। रामचरितसे अधिक कोई गुण नहीं है इसीसे उसे अन्तमें लिखा। श्रीरामगीतामें भी अन्तमें कहा था कि *'मम गुन गावत पुलक सरीरा।'*

टिप्पणी—४ जो-जो स्त्रियोंके दोष गिनाये उन्हींके विपर्ययमें सन्तोंके गुण कहे हैं—

स्त्रियोंके दोष	सन्तके गुण
मोह बिपिन कहँ नारि बसंता	१ *अमित बोध*
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषै सब नारी॥	२ *जप तप ब्रत संयम नेमा*
स्त्री कामको बढ़ाती है	३ *अकामा*
स्त्री क्रोधको बढ़ाती है	४ *क्षमा मयत्री दाया*
स्त्री मदको बढ़ाती है	५ *दंभ मान मद करहिं न काऊ*
स्त्री मत्सरको बढ़ाती है	६ *परगुन सुनत अधिक हरषाहीं।*
दुर्वासना कुमुद समुदायी	७ *भूलि न देहिं कुमारग पाऊ*
'धर्म सकल सरसीरुह……होइ हिम……दहै सुख'	८ *धीर धरम गति परम प्रबीना*
'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ……'	९ *तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्हके देह न गेह।*
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी……॥	१० *अनघ*
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम त्रिय……॥ बुद्धि, बल, सील और सत्यको हर लेती है।	११ *'कबि कोबिद'* (बुद्धिमान्) योगी '**प्राणायाम् परमं बलं**' वा '*षट् विकार जित*', '*सरल सुभाव सबहि सन प्रीती*', 'सत्यसार'।
स्त्री अवगुणमूल, शूलप्रद, दुःखखानि	१२—गुणागार, संसारदुःखरहित, सुखधाम।

☞इस मिलानका तात्पर्य यह है कि स्त्रीके त्यागसे ही ये सब गुण सन्तोंमें निवास करते हैं।

प० प० प्र०—श्रीरघुवीरप्रोक्त सन्तलक्षणोंमें '**अमानित्वमदंभित्वमादि**' सब ज्ञानके लक्षण हैं यह तालिकासे बताया जाता है। इसमें अत्रि आदिकृत पाँच स्तुतियोंमें भी उन्हीं लक्षणोंका अस्तित्व बताया जाता है।

भगवद्गीतोक्त ज्ञान लक्षण	अत्रि आदिकी पाँच स्तुतियोंमेंसे	श्रीरघुवीरप्रोक्त संतलक्षण
१ अमानित्वम्	मदादि दोष मोचनम्	१ *मान करहिं न काऊ। मानद।*
२ अदम्भित्वम्		२ *दंभ करहिं न काऊ। निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।*
३ अहिंसा		३ *सबहिं सन प्रीती। दया मुदिता, क्षमा मयत्री।*
४ क्षान्तिः	हीन मत्सराः	४ *धीर धरम गति परम प्रबीना।*
५ आर्जवम्	५ *मोरि मति थोरी, रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी।*	५ *सरल सुभाउ, बिनय;*
६ आचार्योपासनम्	६ *अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। करि दंडवत।*	६ गुरु-विप्र-पदपूजा, श्रद्धा
७ शौचम्	७ *होहु सकल गुन*	७ *शुचि अनघ भूलि न देहिं कुमारग पाऊ*
८ स्थैर्यम्	८ *बहुत दिवस गुर दरसन पाएँ*	८ अचल
९ आत्मविनिग्रहः	९ *करत मन बस सदा, बिरति, बिराग*	९ *संयम अनीह*
१० इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्	१० निरस्य इन्द्रियादिकम्। *करत गो बस सदा*	१० *नेमा, बिरति, अकिंचन, दम, क्षमा*
११ अनहङ्कार (एव च)	११ *नाथ सकल साधन मैं हीना। दीना।*	११ *मद करहिं न काऊ, मदहीना, परगुन सुनत अधिक हरषाहीं*

१२ आसक्तिः	१२ *छाँड़ि सब संगा*	१२ *षट् बिकारजित, मित भोगी।*
१३ अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु	१३ *जोग अगिनि तनु जारा*	१३ *प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह।*
१४ समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु	१४ *गुनागार*	१४ *सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती।*
१५ मयि अव्यभिचारिणीभक्तिः	१५ भक्ति संयुताः। *अबिरल भगति।* अकामिनां त्वदंघ्रिमूल भजन्ति।	१५ *गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। मम पद प्रीति अमाया, गोविन्द पद प्रीति*
१६ विविक्तदेशसेवित्वम्	१६ विविक्तवासिनः	१६ जोगी, व्रत
१७ अरतिर्जनसंसदि	१७ *ध्यान, जोग, जतन करि*	१७ जप, तप, सावधान, व्रत
१८ जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्	१८ समस्त दूषणापहम् स्वकम्	१८ संसार दुःखरहित, *सुखधामा, बिबेक*
१९ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्	१९ *सकल……ग्याननिधाना। ग्यान*	१९ *बोध जथारथ बेद पुराना। कोबिद*
२० तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्	२० विशुद्ध बोध, विज्ञान	२० *अमित बोध, बिग्याना, कबि, बिगत संदेह*

'*गुनागार*' शब्दोंमें यह भाव है कि दूसरे लक्षण इतने हैं कि '*कहि न सकहिं श्रुति सारद तेते।*' इस प्रकार गीता अध्याय १३ के बीस ज्ञान लक्षणोंका उल्लेख अत्रि, सुतीक्ष्ण और जटायु इन तीनोंकी विनयमें और श्रीरघुवीर-प्रोक्त साधु-गुरु लक्षणोंमें भी स्पष्ट किया गया है। यह है विस्तारसे बचके सिद्धान्ततत्त्व-प्रतिपादनकी मानस-कला-कौमुदीकी शीतलता और सुधामयता। (प० प० प्र०)

नोट—१ '*सुनु मुनि संतन्हके गुन कहऊँ।*' (४५। ६) उपक्रम है और '*सुनु मुनि साधुन्हके गुन जेते।*' (४६। ८) उपसंहार है। यहाँ प्रसंगकी समाप्ति की।

मुख्य 'प्रभु-नारद-संवाद' समाप्त हुआ।

छं०—कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पदपंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे॥
सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रंग रँए॥

दो०—रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥
दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥ ४६॥

अर्थ—'शारदा-शेष नहीं कह सकते' यह सुनते ही नारदजीने प्रभुके चरणकमल पकड़ लिये। इस प्रकार दीनबंधु कृपालु प्रभुने अपने श्रीमुखसे अपने भक्तोंके गुणोंको ऐसा (महत्त्वका) कहा है। बारंबार चरणोंमें माथा नवाकर नारदजी ब्रह्मलोकको चले गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि वे लोग धन्य हैं जो सर्वविध आशा छोड़कर हरिके प्रेम रङ्गमें रँग गये हैं। जो लोग रावणके शत्रु श्रीरामजीका पवित्र यश गाते-सुनते हैं वे बिना वैराग्य, जप और योगके ही दृढ़ रामभक्ति पाते हैं। युवती स्त्रीका शरीर दीपककी लौके समान है, अरे मन! तू उसका पतिंगा न बन। काम और मदको छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीका भजन कर और सदा सत्संग करता रह॥ ४६॥

टिप्पणी—१ '*कहि सक न सारद सेष……*' इति। (क) शारदा स्वर्गकी और शेष पातालके वक्ता हैं। जब ये ही न कह सके, तब मनुष्य कैसे कह सकते हैं? पुनः (ख) शेषजीके हजार मुख हैं और सरस्वतीजी

अनन्त मुखोंमें बैठकर कहती हैं, सो वे भी इतने मुखोंसे भी न कह सके। यथा—'*बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥*' उनमेंसे कुछ गुण श्रीरामजीने अपने मुखसे कहकर यह कहा कि '*कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।*' वा, स्वर्ग और पातालवाले नहीं कह सकते, रहा मर्त्यलोक सो उसमें आपने कुछ कहा है—'*जानहिं राम न सकहिं बखानी।*' (खर्रा) (ग) दीनबंधु और कृपालुका भाव कि आपके ही भजनसे इतनी बड़ाई मिलती है कि 'इनके गुण शेष-शारदा भी नहीं कह सकते।' यह प्रभुकी दीनबंधुता है और कृपा कि स्वयं अपने मुखसे उनके गुण कहते हैं और बखान करते हैं।

टिप्पणी—२ (क) साधुगणकी 'इति' लगाना अत्यन्त अगम्य है, इसीसे कविने भी दो बार कहा कि इनके गुण कोई नहीं कह सकता, यथा—'*कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते*' और '*कहि सक न सारद सेष।*' (ख) इससे सन्तगुणकी अगाधता और अपारता तथा कहनेमें अत्यन्त असामर्थ्य जनाया।

टिप्पणी—३ '*नारद सुनत पद पंकज गहे*' इति। सुनकर चरणोंको पकड़नेका भाव कि ये सब गुण आपके इन चरणोंकी कृपासे ही प्राप्त होते हैं। (इससे कृतज्ञता-प्रकाश भी सूचित होता है।)

टिप्पणी—४ '*अस दीनबंधु कृपाल……निज मुख कहे*' इति! भाव कि ये सम्पूर्ण गुण आप ही देते हैं, यथा—'*यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥*' (४। २१। ६) और आप ही अपने सन्तोंके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, स्वयं गुण देकर स्वयं ही उनपर रीझते हैं, ऐसे कृपालु हैं।

टिप्पणी—५ '*सिर नाइ बारहिं बार……*' इति। जानेके समय स्वामीको प्रणाम करना उचित ही है। श्रीरामजीके मुखारविन्दसे सन्तलक्षण सुने, अतः परम कृतज्ञता और प्रेमके कारण बार-बार माथा नवाते हैं। यथा—'*मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥*' (७। १२५) '*पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि। बोली गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि॥*' (१। ११९) '*सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी॥ पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥*' (५। ४९। ३-४) पुनः इससे जनाया कि इन चरणोंमें माथा नम्र होनेसे ब्रह्मलोक क्या कोई भी लोक अलभ्य नहीं है जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं। पुनः, प्रभुका उपकार और अपना अपराध समझकर उसकी क्षमाके लिये भी बारंबार प्रणाम किया। '*आस बिहाइ*' क्योंकि आशाके रहते हरिरङ्ग नहीं चढ़ता। ['*ते धन्य आस……*'—यह धन्य होनेका साधन बताया। जिसमें यह लक्षण हो वही धन्य है। 'हरिरंग' अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति। यह रङ्ग जब अन्तःकरणरूपी पटपर चढ़ जाता है। तब जीव धन्य हो जाता है। कृतकृत्य हो जाता है। अन्तःकरण भक्तिरसमय हो जाना चाहिये। यह कैसे हो? इसका साधन अगले दोहेमें बताते हैं। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—'*रावनारि जसु पावन*' इति (क) बालकाण्डके उपसंहारमें '*राम जसु*' और '*रघुबीर चरित*' ऐसा कहा है—'*मंगलायतन रामजसु।*' यहाँ '*रावनारि जसु पावन*' कहनेमें भाव यह है कि इस काण्डमें रावणसे वैर हो गया है। सीताहरण करनेसे वह वैरी हो गया है और यह वैर (शत्रुत्व) ही श्रीरघुवीर-यशकी परम सीमा प्राप्त कर देगा। (ख) इस काण्डमें ही शूर्पणखाविरूपीकरणमें रावण-वैरका बीज बोया गया। वह सीताहरणमें वृक्षरूप बनकर फूला है। किष्किन्धा और सुन्दरमें फल लगेगा, लङ्कामें फल परिपक्व होगा और उत्तरकाण्डमें उस फलका रसास्वाद मिलेगा। (ग) 'पावनमें भाव यह है कि रावणारि यशका श्रवण वा गान करनेसे प्रथम अन्तःकरण निर्मल होगा, उसमेंसे कलिमल-मानसरोग हट जायेंगे। (घ) '*बिनु जप*' का भाव कि राममंत्रके सिवा अन्य मंत्रोंके जपकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि रामचरित ही तो रामयश है। और 'रामचरित' तो 'राकेशकर' है और 'रामनाम राकेश' है। राकेशके बिना राकेशकर-निकरका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। (ङ) सार यह है कि रावणारिका पावन यश सतत गाते-सुनते रहनेसे विराग योग आदि सब कुछ अनायास ही आ प्राप्त होता है। तथापि एक बातमें परम सावधानता रखनी चाहिये। वह एक बात अगले दोहेमें कहते हैं।

नोट—१ यह हरिगीतिका छंद है। इसके प्रत्येक चरणमें २८ मात्राएँ और ६-१२ में विश्राम होता है और चरणान्तमें लघु गुरु वर्ण आते हैं।

टिप्पणी—६ *'रावनारि जस पावन गावहिं·······'* इति। (क) यह तीन वक्तालोगोंकी इति लगी। गोस्वामीजीकी इति आगे है। (ख) रावणारियश पावन कैसे? क्योंकि निष्कपट युद्ध है। क्षत्रियका काम है कि दुष्टोंको मारें और सन्तोंको सुख दें। यह उनका परम धर्म है; अतः पावन है। (खर्रा) *'गावहिं सुनहिं जे लोग'*= वक्ता और श्रोता दोनों, वर्णाश्रम कोई भी हो, इसमें सबका अधिकार जनाया। कैसा भी अधम क्यों न हो वह भी गा-सुन सकता है। (ग) बिना वैराग्य, जप और योगके ही दृढ़ भक्ति पानेका एक यही साधन है श्रीरामजीका यश कहे और सुने। जो *'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई। रघुबीरचरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावई॥'* (छन्द ६) में कहा था, वही बात यहाँ फिरसे कही। अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ 'धर्म' कहा और यहाँ 'विराग'—यह कोई भेद नहीं है, क्योंकि वहाँ 'धर्मसमूह' पद है और धर्मसमूहसे वैराग्य होता ही है; यथा—*'धर्मते बिरति जोग ते ज्ञाना।'* इस प्रकार दोनों ठौर एक ही बात कही। पुनः, वहाँ बताया था कि समूह जप, योग, धर्म ये सब अनुपम भक्तिके साधन हैं; अतः यहाँ कहा कि इन साधनोंके बिना ही दृढ़भक्ति 'रामयशके श्रवण-कीर्तनसे' मिलती है।

नोट—☞ २ यह दोहा आशीर्वादात्मक है। गोस्वामीजी एवं सभी वक्ता आशीर्वाद देते हैं कि श्रीरामयश कहने-सुननेसे बिना जप, योग, वैराग्यके ही दृढ़ भक्ति हो जायगी।

नोट—३ अयोध्याकाण्डमें कहा था कि भरतचरित नियमसे सुननेसे श्रीसीयरामपदप्रेम और वैराग्य अवश्य होगा और यहाँ कहते हैं कि बिना वैराग्य ही दृढ़ भक्ति मिलेगी।

टिप्पणी—७ *'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग·······'* इति। (क) अब श्रीरामजीके उपदेशमें गोस्वामीजी अपनी इति लगाते हैं। *'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि'* ये वचन श्रीरघुनाथजीके हैं इन्हीं वचनोंको लेकर इन्हींसे काण्डकी इति लगायी। पूर्व दोहेसे इसका सम्बन्ध लगाया। (ख) दीपशिखा देखनेमें सुन्दर है। पर पतिंगोंको भस्म कर देती है। वैसे ही स्त्रीका शरीर देखनेमें सुन्दर है पर वह सब धर्म, कर्मोंको भस्म कर देती है। (ग) यह प्रसङ्ग कहकर जनाया कि इसी कारण रावण कुल-समेत मारा गया। (घ) इस उपदेशसे यह भी जनाते हैं कि प्रभुके स्त्री-विरहपर दृष्टि न करो, वरन् उनका भजन करो। बाल और वृद्धावस्थामें स्त्रीका तन दीपशिखा-सम प्रकाशमान नहीं होता, युवावस्थामें ही होता है। अतएव *'जुवति तन'* पद दिया गया।

प० प० प्र०—*'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग।'* इति। याज्ञवल्क्योपनिषद्के इस श्लोकसे मिलान कीजिये—'**केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शालोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखाधायो दहन्ति तृणवन्नवरम्॥**' (१०) इस श्लोकमें 'अग्निशिखा' शब्द है और यह दुष्कृताग्नि है। इस श्लोकके आधारसे ऊपरकी उपमाका विकास करना सुलभ है। (२) यहाँ शंका होगी कि दीपशिखापर कूदनेसे पतंग मर जाता है या दीप बुझ जाता है। इसमें हानि क्या है? पर ध्यानमें रखना चाहिये कि यहाँ मन पतंग है। पुरुषका शरीर पतंग नहीं है। मन तो ऐसी विलक्षण वस्तु है कि वज्र, ब्रह्मास्त्र, ऐटमबाम्बसे भी नहीं मरता है। स्त्रीरूपी दीपशिखा भी ऐसी है कि मनरूपी पतंगके उसपर आसक्त होनेसे वह मरेगी ही नहीं। पर प्रत्येक बारके संसर्गसे मन अधिकाधिक मैला होता जायगा।

टिप्पणी—८ *'भजहि राम तजि काम मद'* इति। (क) काम और मद भक्तिके बाधक हैं और सत्संग साधक है। अतः उसका त्याग और इसका ग्रहण कहा। (ख) भाव कि इन्हीं काम और मदमें पड़नेसे नारद-सरीखे महात्माकी दुर्दशा हुई थी। (ग) *'करहि सदा सतसंग'*, यथा—*'तुलसी घट नव छिद्र को सतसंगति सर बोरि। बाहर रहै न प्रेम जल कीजै जतन करोरि॥'* तनरूपी घट नवछिद्रका है। यह जलमें डूबा रहे तभी भरा रहता है नहीं तो करोड़ों उपाय करो उसमें बूँदभर भी जल नहीं रह सकता।

नोट—४ सत्सङ्गतिसे भजन बराबर होगा, मनुष्य संसारसे सदा मुक्त रहेगा, मोह पास न आयेगा, यथा—'*बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥*' (७। ६१) दृढ़ अटल प्रेम बना रहे इसके लिये सत्सङ्ग आवश्यक है। पुन: '*सत्संगति संसृति कर अंता।*' यही कारण है कि शिवजी आदिने भी सत्संग-प्राप्तिका वर माँगा है; यथा—'*बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भक्ति सदा सतसंग॥*' (७। १४) '*यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मबस भ्रमत जग जोनि संकट अनेकं। तत्र त्वद्भक्ति सज्जनसमागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकं॥*' (विनय) '**त्वच्चरणबलां भक्तिं त्वज्जनानां च संगमम्। देहि मां कृपासिन्धो मह्यं जन्मनि जन्मनि॥**' '*दृढ़*' का भाव कि समय पाकर भक्ति छूट जाती है पर यश कहते-सुनते रहनेसे वह अन्त:करणमें जम जाती है, फिर नहीं छूटती।

रा० प्र०—इस काण्डमें अद्भुतरस कहा है। सींकके बाणसे जयन्तको शिक्षा, खर आदिका आपसमें ही लड़ मरना, कनकमृग ये सभी अद्भुत ही कथाएँ हैं।

प० प० प्र०—उपसंहार—(१) स्वान्त:स्थ मङ्गलायतन परमात्माके अवतार मङ्गलमूलत्व और मङ्गलमयत्वका वर्णन बालकाण्डमें किया। (बा० मङ्गल १) उनकी प्राप्तिके लिये विश्वासयुक्त श्रद्धाजनित धर्माचरणसे वैराग्य प्राप्त करना चाहिये यह अयोध्याकाण्डका विषय है। (बा० मङ्गल २) (२) वैराग्य-प्राप्तिके लिये सद्‌गुरुरूपी शङ्करजीका आश्रय करनेपर मायाके विनाशका साधन, सन्त-सद्‌गुरु-संगति और सत्‌गुरुकृपा-प्राप्तिसे ज्ञानलाभ, मायाविनाश, मोहनाश और मोहनाशका फल रामपद-अनुराग प्राप्त करना है। (बा० मङ्गल ३) पर यह सब प्राप्त होनेके लिये सद्‌गुरु-कृपासे रामनामरूपी सोमकी प्राप्ति ही करनी चाहिये। अत: किष्किन्धाकाण्डका उपन्यास भी इस काण्डके ४२ वें दोहेमें कर रखा है। उसीका उपक्रम मङ्गलाचरणरूपसे किष्किन्धाकाण्डके प्रथम श्लोकद्वयमें किया गया है। प्रथम श्लोकमें उलटे रामनामका और दूसरेमें सीधे 'राम' नामका। यह उन श्लोकोंकी टीकामें स्पष्ट किया है।

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम तृतीय: सोपान:।

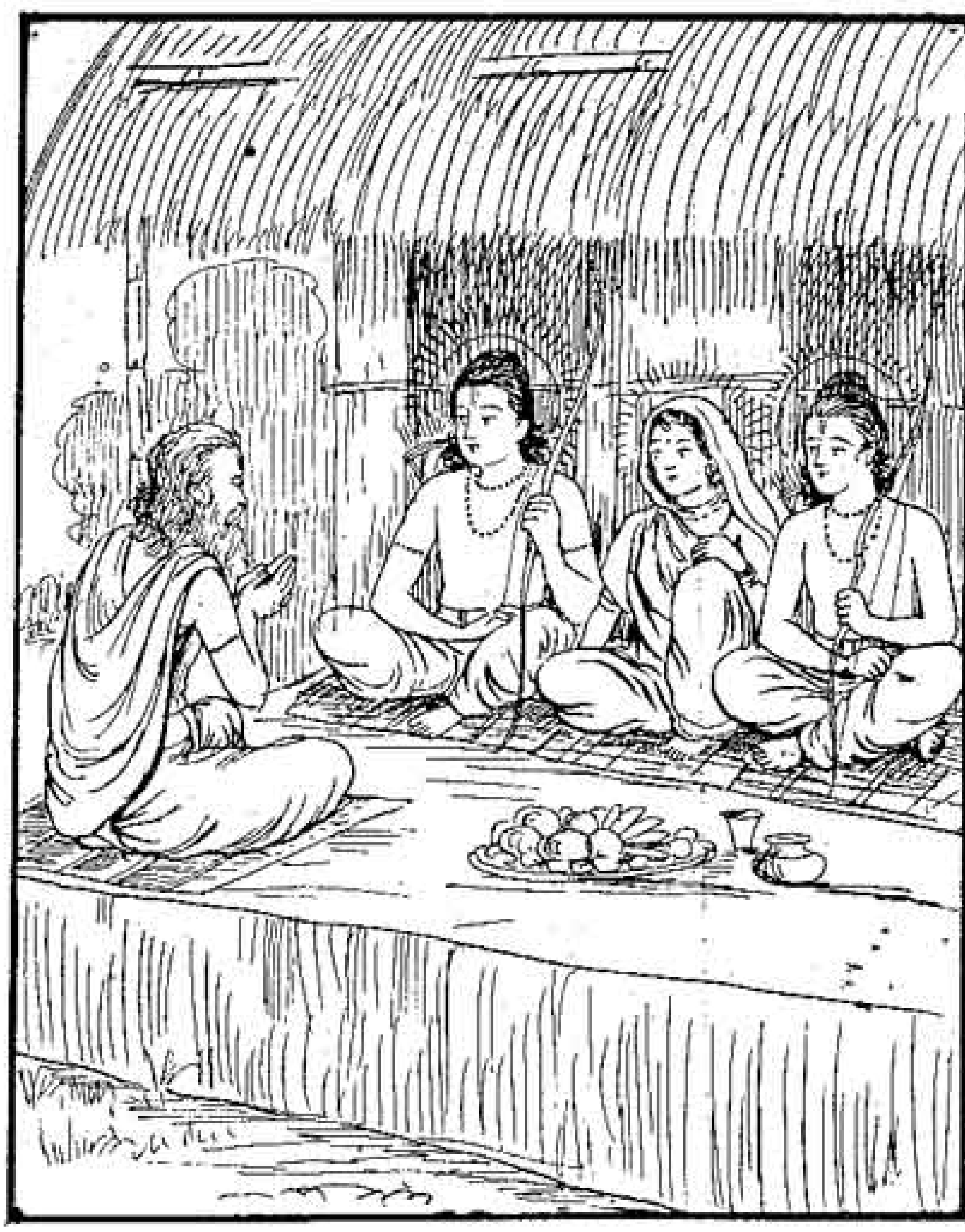
अर्थ—सम्पूर्ण कलिके पापोंका विनाश करनेवाला और निर्मल वैराग्यका सम्पादन कर देनेवाला श्रीरामचरितमानसका तीसरा सोपान (अरण्यकाण्ड) समाप्त हुआ।

(प्रभु-नारद-संवाद-प्रकरण समाप्त हुआ)

श्रीखरदूषणादिनिधनकारी, भक्तहृत्तापहारी श्रीसीतापरिमार्गणे—काननविहारी श्रीरावणारि श्रीरघुवीरकी जय! श्रीसन्त-भगवन्त-गुरु-हनुमत् कृपालूकी जय! यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्मव्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने। अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धो: श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

अत्रिके अतिथि



करि पूजा कहि बचन सुहाए। दिए मूल फल प्रभु मन भाए॥

* श्रीसीताराम *

मानस-पीयूष

खण्ड-५

चतुर्थ सोपान (किष्किन्धाकाण्ड)

सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलक

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी वन्दन पाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिन्धुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), श्रीहरिदासजी, पांडे श्रीरामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्वमानसाचार्यों, टीकाकारोंके भाव; मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्राय: समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी एवं श्रीनंगे परमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह।

सम्पादक

श्रीअञ्जनीनन्दनशरण

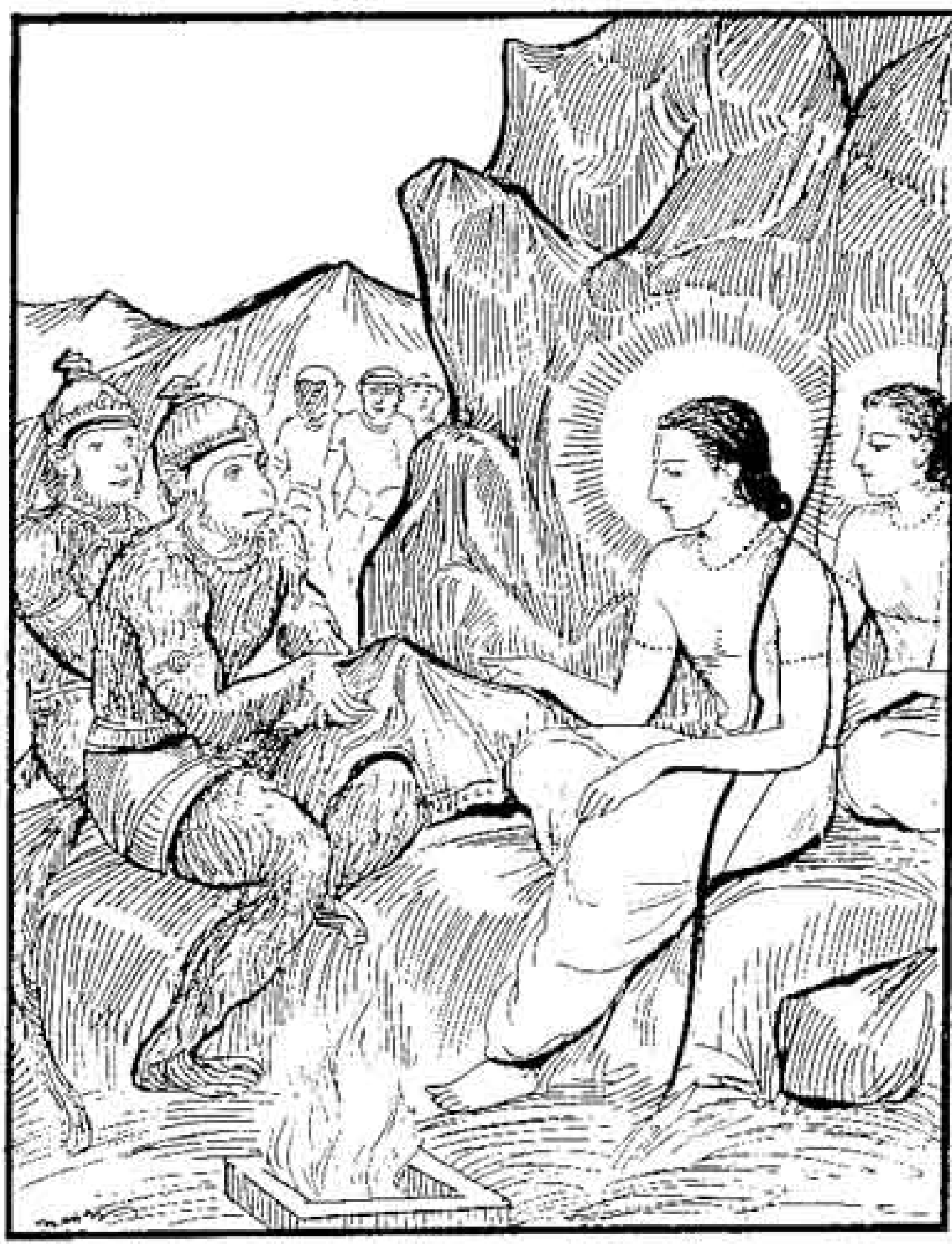
श्रीगुरवे नमः

प्रकरणोंकी सूची

☞ संकेताक्षरोंका विवरण भी प्राय: वही है जो सुन्दकाण्डका है।

शब्दों तथा कुछ स्मरण रखने योग्य बातोंकी अनुक्रमणिका

भगवान् रामकी सुग्रीवसे मैत्री



सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

॥ श्री ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते।

ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

परमाचार्य्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्य्यश्रीसाकेतवासिश्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

अथ श्री

मानस-पीयूष

(नामक तिलकसहित)

श्रीरामचरितमानस चतुर्थ सोपान

(किष्किन्धाकाण्ड)

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ। शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ॥
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ। सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः॥ १॥

शब्दार्थ—कुन्द—जुहीकी तरहका एक पौधा, जिसमें सफेद फूल लगते हैं, जिनमें बड़ी मीठी सुगन्ध होती है। गौरवर्णकी उपमा इससे देते हैं, यथा—'*कुंद इंदु सम देह उमारमन करुना अयन।*' (बाल० मं० सो० ४) **इन्दीवर**=नीलोत्पल, नीलकमल। **सुन्दर**=मनोहर, यथा—'सुन्दरं मनोहरं रुचिरम्।' इति (अमरकोश) **उभौ**=दोनों। **आढ्य**=सम्पन्न, पूर्ण, युक्त। **शोभाढ्य**=शोभाके सब अङ्गोंसे परिपूर्ण। शोभाके अङ्ग, यथा—'*द्युति लावण्य स्वरूप पुनि सुन्दरता रमणीय। कान्ति मधुर मृदुता बहुरि सुकुमारता गणीय॥*' **धन्वी, धन्विन्**=धनुर्धर, धनुषविद्यामें पूर्ण निपुण। **नुत**=स्तुत, प्रशंसित, जिसकी स्तुति या वन्दना की गयी हो। **वर्म**=कवच, जिराबख्तर। **अन्वेषण**=खोज, ढूँढ़। **पथि**=पंथमें। मार्गमें।

अर्थ—कुन्दके पुष्प और नीलकमलके समान सुन्दर, अत्यन्त बलवान्, विज्ञानके धाम, शोभासम्पन्न, श्रेष्ठ धनुर्धर, वेदोंसे स्तुत्य, गौ और ब्राह्मणवृन्द जिनको प्रिय हैं एवं जो उनके प्यारे हैं, 'माया' से मनुष्यरूप धारण किये हुए, रघुकुलमें श्रेष्ठ, सद्धर्मके लिये कवचरूप (अर्थात् उसके रक्षक, उसपर चोट न आने देनेवाले), सबके हितकारी, श्रीसीताजीकी खोजमें तत्पर, मार्गमें प्राप्त दोनों भाई रघुवर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी हमको निश्चय ही भक्तिके देनेवाले हैं॥ १॥

गौड़जी—इस छन्दमें कुछ लोग व्याकरणकी भूल देखते हैं। उनका कहना यह है कि यहाँ साधारण व्याकरणकी दृष्टिसे '**धामानौ वर्म्माणौ**' होना चाहिये था, क्योंकि 'धा' और 'वृ' धातुओंमें 'मनिन्' प्रत्यय साधारणतया लगानेकी प्रथा है। प्रमाण है, '**सर्वधातुभ्यो मनिन्**' (उणादि ४। १४५) परन्तु '**उणादयो बहुलम्**' (पाणिनि ३। ३। १) के प्रमाणसे 'मन्' प्रत्ययान्त धर्म शब्दकी तरह 'धाम' और 'वर्म्म' यह आकारान्त शब्द भी सिद्ध हो सकते हैं। द्विरूपकोषकारके सिद्धान्तसे '**नान्तसान्ताः सर्वे अदन्ताः**' सभी 'न्' और 'स्' से समाप्त होनेवाले शब्द अदन्त अर्थात् अकारान्त माने जा सकते हैं। पुराणोंमें इसके उदाहरण मिलते हैं। इन दोनों प्रमाणोंसे *'धामौ'* और *'वर्मौ'* दोनों शुद्ध हैं।

'**धामानौ**' साधारणतया शुद्ध है, प्रसिद्ध है, और 'धामौ' अप्रसिद्ध; अतः अप्रसिद्ध दोष आता है सही, परन्तु '**अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्**' इस प्रमाणसे यहाँ भारी दूषणसे बचनेको यह छोटा दूषण नगण्य है, साथ ही यह अप्रसिद्ध वैयाकरणोंके निकट है। भाषापाठकोंके निकट नहीं।

टिप्पणी—१ (क) कुन्दके समान गौरवर्ण श्रीलक्ष्मणजी और नीलकमलके समान श्यामवर्ण श्रीरामचन्द्रजी। यथा—*'गौर किसोर बेषु बर काछें।'''''लछिमन नाम राम लघु भ्राता।'* (१। २२१) *'स्याम सरोज दाम सम सुंदर प्रभु''''''॥'* (५। १०) (ख) दोनों सुन्दर हैं, यथा—*'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।'* (१। २१६) और *'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'* (१। २१६) (ग) दोनों अतिबली हैं, यथा—*'छन महँ सबहि हते भगवाना', 'राजन रामु अतुल बल जैसें। तेजनिधान लखन पुनि तैसें॥' 'कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरिकिसोर के ताकें॥'* (१। २९३) *'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड। पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मंड॥'* (१। २५९) (घ) दोनों विज्ञानधाम हैं, यथा—*'संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई। राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ कि नाई॥'* (कवितावली २। १) *'सर्वगुन-ज्ञान-विज्ञानसाली'* (वि० ५५) विशेष '**श्रुतिनुतौ**' में देखिये। (ङ) दोनोंमें पूर्ण शोभा है, यथा—*'सोभासींव सुभग दोउ बीरा।'* (१। २३३) (च) '**वरधन्विनौ**' अर्थात् दोनों उत्तम धन्वी हैं, यथा—*'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'* (६। ४९) (छ) दोनों श्रुतिसे प्रशंसा किये गये हैं, यथा—*'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप''''''।'* (७। १३) *'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥'* (१। १८७) [ब्रह्म ही चार रूपसे प्रकट हुआ है, यथा—'**ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वात्मानं चतुर्विधम्। पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥**' (वाल्मी० १। १५। ३१) '**अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ। वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ॥**' (वाल्मी० १।१८।१४) '**चतुर्धात्मानमेवाहं सृजामीतरयोः पृथक्।**' (अ० रा० १।२।२७) '**कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयेल्लघुराक्षसः।**' (अ० रा० ६।६। १२) (लक्ष्मणजीको रावणने उठाना चाहा था, उस समय वक्ता उनको 'लोकाश्रय विष्णु' कहकर जना रहे हैं कि ये विष्णु ही हैं।) अतः इस स्तुतिमें श्रीलक्ष्मणजीकी भी स्तुति आ गयी।] (ज) गोविप्रवृन्दप्रियौ, यथा—*'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥'* (२। ९३) *'प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना, (सेष सहस्त्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभयटारन॥ तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा।'* (६। ७६) भूमिभय दूर करनेसे प्रिय हैं।) (झ) **मायामानुषरूपिणौ**, यथा—*'कृपासिंधु मानुष तनु धारी'*, '**मायामनुष्यं हरिम्**' (सुं० मं० १), *'अंसन सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुख दाता॥'* (१। १५२) (ञ) **सद्धर्मवर्मौ हितौ**=निश्चय करके उत्तम धर्मके बख्तर और सबके हितकारी। यथा—'**धर्म वर्म नर्मद गुणग्रामः।**' (४। ११) *'जयति सीतेस सेवासरस बिषयरसनिरस निरुपाधि धुरधर्मधारी।'* (वि० ३८) *'तनु धनु धाम राम हितकारी।'* (७। ४७) *'लाड़िले लषनलाल हित हौ जनके।'* (वि० ३७) (ट) सीतान्वेषणमें दोनों तत्पर हैं, यथा—*'पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई।'* (३। ३३) (ठ) **पथिगतौ**, यथा—*'चले बिलोकत बन बहुताई।'* (३। ३३) और, (ड) भक्तिप्रदौ हैं, यथा—*'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रति होहू॥'* (२। ९४) (लक्ष्मणजी) *'भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥'* (७। ८५) (श्रीरामजी)

टिप्पणी—२ कुन्द आदि विशेषणोंके क्रमका भाव। कुन्द और कमल फूल हैं। फूलके समान सुन्दर और कोमल कहनेसे बलमें शंका न हो इसलिये **'अतिबलौ'** कहा। बलवान् होनेसे अहंकार होकर ज्ञान नष्ट हो जाता है, इस शंकाके निवारणार्थ ***'विज्ञानधाम'*** कहा। विज्ञानी लोग शोभासे युक्त होते हैं, अतः **'शोभाढ्यौ'** कहा। [अथवा, 'विरहसे संतप्त पुरुष 'अति बली' कैसे होगा? इसके निराकरणार्थ **'विज्ञानधाम'** कहा। अर्थात् वे सब जानते हैं कि श्रीजानकीजी कहाँ हैं और कैसे मिलेंगी। कैसे जानें कि वे सब जानते हैं, इसके उत्तरमें **'शोभाढ्यौ'** कहा। अर्थात् न जानते होते तो चिन्तासे शरीर कान्तिहीन हो जाता। (मा० म०)] शोभासे युक्त देखकर वीरतामें संदेह वा धोखा न हो जाय; इससे **'वरधन्विनौ'** कहा। ये सब बातें एक साथ मनुष्योंमें होनी असम्भव हैं; अतएव **'श्रुतिनुतौ'** कहकर ईश्वरता सूचित की। [**'वरधन्विनौ'** कहकर **'श्रुतिनुतौ'** कहनेका भाव कि धनुर्विद्या वेदसे निकली है, वही वेद इनकी स्तुति करता है। जो वेदधर्मके प्रतिकूल हैं उनको ये दंड देते हैं। (मा० म०)] वेद स्तुति करते हैं। ऐसे महान् होनेपर भी गौ और विप्र प्रिय हैं; अतः **'गोविप्रवृन्दप्रियौ'** कहा। [इस विशेषणमें बड़ी विशेषता यह है कि यज्ञके समय मन्त्रोंके साथ जो आहुति अग्निमें डाली जाती है वह परमेश्वरतक पहुँचती है, परंतु इस आहुतिके मुख्य कारण गौ और ब्राह्मण हैं; ब्राह्मण मन्त्र-उच्चारण करते हैं और गायके घीसे आहुति दी जाती है। इसीसे दोनों प्रिय हैं।—(र० ब०) (ख)—***'वृन्द'*** पद देनेका भाव यह है कि ब्राह्मणों और गौओंकी वृद्धि आप सदा चाहते हैं, इनके झुंड-के-झुंड देखकर आपको हर्ष होता है। नहीं तो ***'वृन्द'*** शब्दकी कोई आवश्यकता न थी।] **'गोविप्रवृन्दप्रियौ'** की पुष्टता के लिये **'मायामानुषरूपिणौ'** कहा अर्थात् ये प्रिय हैं, अतः इनका दुःख हरनेके लिये अवतार लिया। यथा—***'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'*** **'रघुवरौ'** का भाव यह कि रघुकुलमें हरिश्चन्द्र आदि बहुत-से राजा सद्धर्म करनेवाले हुए पर उनमें ये श्रेष्ठ हैं, इसीसे **'सद्धर्मवर्मौ'** कहा और **'सीतान्वेषणतत्परौ, पथिगतौ'** कहकर उस धर्मरक्षाका कार्य प्रत्यक्ष दिखाया; क्योंकि पतिव्रता स्त्रीकी खोज करना पतिका धर्म है। इतना स्तव क्यों करते हैं? इसका कारण अन्तमें देते हैं। **'भक्तिप्रदौ'** अर्थात् ये दोनों भाई हमको भक्तिके देनेवाले हैं।

वि० त्रि०—**'कुन्देन्दीवरसुन्दरौ'** इति। फूलसे ही उपमा देनेका भाव यह है कि भगवान् मारुतिको दोनों सरकार कुन्देन्दीवर फूलोंकी भाँति ही मृदुल मनोहर सुन्दर दिखायी पड़े और उनका आतप वात सहना, कठिन भूमिपर कोमलपदगामी होना, हनुमान्‌जीसे सह्य न हुआ और फिर उन्हें एक पग भी पैदल नहीं चलने दिया—***'लिये दोउ जन पीठि चढ़ाई।'***

'पथिगतौ भक्तिप्रदौ'—सरकार रास्ता चलते-चलते जिस भाँति भक्ति वितरण करते चलते थे उस भाँति अयोध्यामें रहते हुए भक्ति वितरण करते नहीं दिखायी पड़ते। भावुक कविने देखा कि इसी अवसर मैं भी क्यों न भक्ति माँग लूँ, अतः कहते हैं **'भक्तिप्रदौ तौ हि नः।'**

रा० प्र० श०—कामनाके अनुकूल ही कवि अपने सेव्यके गुण कहते हैं। पर यहाँ **'अतिबलौ'** और **'सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ'** कहकर भक्ति माँगते हैं, यह असंगत है? इस शंकाका समाधान यह है कि—**'अतिबलौ'** से जनाते हैं कि हमारे हृदयमें कामादि शत्रु बहुत प्रबल हो रहे हैं; उनका शमन कीजिये। **'सीतान्वेषणतत्परौ……'** से जनाया कि 'आप आश्रितवत्सल हैं, अपने भक्तोंके वियोगमें स्वयं दुःखी हो जाते हैं और उनके मिलनेके उपायमें तत्पर रहते हैं। अपने भक्तोंपर अधिक दया करते हैं।' यह देखकर और श्रीरामजीको भक्तवत्सल जानकर (यथा—***'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना'***, ***'भगत बछलता हिय हुलसानी'***, **'नमामि भक्तवत्सलं'** इत्यादि) भक्तिका वर माँगा।

मा० म०—**'कुन्देन्दीवरसुन्दरौ'** में माधुर्य, **'अतिबलौ'** में ऐश्वर्य, **'विज्ञानधामावुभौ'** से शुद्ध, शान्त, **'शोभाढ्यौ'** से शृङ्गार, **'वरधन्विनौ'** में वीर और **'गोविप्रवृन्दप्रियौ'** में वात्सल्य रस भरा है। **'श्रुतिनुतौ'** के **'नुतौ'** में धारणा परत्व है।

टिप्पणी—३ यहाँ प्रथम '**कुन्द**' पद दिया गया जो श्रीलक्ष्मणजीके गौरवर्णकी उपमा है, तब '**इन्दीवर**' पद दिया गया जो श्रीरामजीके श्यामवर्णकी उपमा है। अर्थात् इस मङ्गलाचरणमें रामचन्द्रजीसे पहले लक्ष्मणजीको कहा है। ऐसा करनेका आशय यह है कि लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं और बिना आचार्यके प्रभुका मिलना दुर्लभ है यथा—'*गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥*'

नोट—१ '**कुन्देन्दीवर**' के और भाव ये हैं—(क) ग्रन्थकारने प्रातःकाल पंपासरस्थित दोनों राजकुमारोंका जब ध्यान किया तो उस समय श्रीलक्ष्मणजी सरके कूलपर खड़े थे। अतएव ऊँचे स्थानपर रहनेसे प्रथम वे ही दृष्टिगोचर हुए। श्रीरघुनाथजी नीचे सरमें स्नान कर रहे थे; इससे वे पीछे देख पड़े। अतएव प्रथम कुन्द तब इन्दीवर कहा। (पं० श्रीधर मिश्र) (ख) इस काण्डमें दो कार्य करना मुख्य है—एक तो सुग्रीवको अङ्गीकार करना, दूसरे उनको राज्य देना। बिना आचार्यके ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ लक्ष्मणजी आचार्य हैं। इनके द्वारा सुग्रीवको श्रीरामजीकी प्राप्ति होगी यथा—'*लछिमन रामचरित सब भाषा।*' चरितद्वारा उनको परविभूतिका उपदेश दिया। पुनः, राज्याभिषेक भी इन्हींके द्वारा होगा। (मा० शं०) (ग) छन्दोभङ्गके विचारसे जैसा जहाँ उचित होता है वैसा कवि लिखते हैं। दूसरे कुन्द शब्द छोटा है और इन्दीवर बड़ा है। प्रायः व्याकरणकी रीति है कि जब ऐसे दो नाम साथ आते हैं तब छोटा नाम प्रथम रखा जाता है। '**अल्पाच्तरं पूर्व निपातः**' इस सूत्रके द्वारा छोटा नाम पहले आ जाता है। (मा० शं०) (घ) वियोगजनित दुःखसे व्याकुल हो जानेपर लक्ष्मणजीहीके समझानेसे चित्त शान्त होता है। वाल्मी० कि० सर्ग १ इसका प्रमाण है। (रा० प्र० श०) (ङ) वा, लक्ष्मण श्रीरामप्राप्तिके द्वार हैं और योगियोंके ध्यानमें प्रत्याहारसे केवल नील घनश्याम पीछे समाधिमें रहता है। (प्र०) अथवा, (च) श्रीरामजी विरहमें मग्न हैं, इससे श्रीलक्ष्मणजी आगे-आगे चल रहे हैं। अतएव लक्ष्मणजीको पहले कहा।

मा० म०—फूलका ही रूपक यहाँ क्यों कहा गया? इसका कारण यह है कि अरण्यकाण्डमें कहा गया था कि '*बिरही इव प्रभु करत बिषादा*' इत्यादि; इस विरहव्यथाको सुनकर भक्त संकुचित हो गये; अब फूलका रूपक आदिमें देकर जनाया कि अब प्रभुको प्रफुल्लित देखकर सब आनन्दित होंगे।

रा० प्र० श०—'**कुन्द**' श्वेत होता है। यह शान्तरसका रंग है। इस काण्डको शान्तरससे प्रारम्भ करनेका कारण यह है कि—(क) वस्त्र मिलने और सुग्रीवके यह कहनेपर कि '*सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥*' इत्यादि, खोजनेमें जो परिश्रम था उससे दोनों भाइयोंको शान्ति प्राप्त हुई। (ख) जो सेना दक्षिण गयी थी वह प्याससे मरणप्राय हो गयी थी, स्वयंप्रभाके आश्रममें जानेसे उसकी और स्वयंप्रभाको रामदर्शनसे शान्ति मिली। (ग) सम्पाती सत्ययुगसे पक्ष जल जानेके कारण दीन पड़ा था। उसे वानरोंके मिलनेसे पुनः पक्ष निकलनेसे शान्ति मिली।—अर्थात् इस काण्डमें बहुतोंको शान्ति प्राप्ति होगी, इस बातको कविने प्रथम ही शान्तरसको देकर जनाया है।

नोट—२ '**मायामानुषरूपिणौ**' इति। भाव यह कि मनुष्य हैं नहीं, पर अपनी दिव्य शक्तिसे वे मनुष्यरूप जान पड़ते हैं। जैसा कहा है कि '*इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥*' '*निज इच्छा प्रभु अवतरइ।*' (४। २६) मनुष्योंकी तरह बाल्य, कौमार, पौगण्ड, युवा आदि अवस्थाएँ धारण करना और विरह-विलाप आदि चरित करना यही मनुष्यरूप होना है, क्योंकि ये अवस्थाएँ नित्य-स्वरूपमें नहीं होतीं, वह तो सदा षोडश वर्षकी अवस्थाका रूप रहता है। हमारी दृष्टि मायामय है इससे हमको मायासे मनुष्य जान पड़ते हैं। पुनः, माया कृपाको भी कहते हैं। (प्र०) वैदिक निघण्टुमें '**मायाज्ञानवयुनम्**' से 'माया और ज्ञान' को पर्याय कहा है। 'माया' शब्द यहाँ ऐसा दिया है कि अद्वैती, विशिष्टाद्वैती आदि सभी अपने अनुकूल अर्थ कर सकते हैं। विशेष (१। १५२। ४) देखिये।

नोट—३ इस काण्डका नाम 'किष्किन्धा' क्यों हुआ? काण्डोंके नामके विषयमें अरण्य और सुन्दरमें काफी लिखा गया है। '**किष्किन्धा**' बालि और सुग्रीवकी नगरीका नाम है। किष्किन्धापर्वत श्रेणीका भी

नाम है जो किष्किन्धा देशमें हैं। इस काण्डमें जो चरित हुए वे किष्किन्धा देशमें हुए। अतएव किष्किन्धासे सम्बन्ध रखनेके कारण इसका नाम किष्किन्धा हुआ।*

वि० त्रि०—यद्यपि श्रीगोस्वामीजीके काण्डोंके अन्तकी पुष्पिकाओंमें प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान आदि नाम दिये हैं, परन्तु आदिमें उनका बालकाण्डादि नाम देना भी सिद्ध है। इसका बड़ा भारी प्रमाण यही है कि इस काण्डमें कहीं 'किष्किन्धा' नाम ही नहीं है, अब यदि इसे किष्किन्धाकाण्ड न कहकर चतुर्थ सोपान या चतुर्थ प्रबन्ध कहा जाय, (जैसा कि आजकलके नई खोज करनेवालोंका मत है) तो *'अर्धरात्रि पुरद्वार पुकारा'* इस पदसे यह पता ही न चलेगा कि किस पुरके द्वारपर पुकारा। अतः सिद्ध है कि गोस्वामीजीने इसका नाम किष्किन्धाकाण्ड रख दिया, अन्तःपुरके नाम देनेकी आवश्यकता न हुई।

नोट—४ जैसे अरण्यमें मङ्गलाचरण शार्दूलविक्रीडित छन्दमें किया था वैसे ही यहाँ भी किया गया। निर्भय होकर घने-घने वनोंमें घूमते फिरे यह सिंहका ही काम है। (अरण्य० मं० श्लो० १ तथा बाल० मं० श्लो० ६ देखिये।)

नोट—५ कुछ महानुभाव इस श्लोकको काण्डकी सूची बताते हैं। वे कहते हैं कि यहाँ नाम, रूप, गुण, लीला और धाम पाँचों दिखाये हैं और इन्हीं पाँचोंकी व्याख्या काण्डभरमें है।—'**रघुवरौ**' से नाम, '**कुन्देन्दीवर**' से रूप, '**अतिबलौ**' इत्यादिसे गुण, '**गोविप्रवृन्दप्रियौ सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ**' से लीला और '**विज्ञानधामावुभौ**' से धाम सूचित किया। आगे हनुमान्‌जीसे मिलनेपर भी इन पाँचोंको प्रभुने कहा है। (प्र०)

इसपर स्वामी प्रज्ञानानन्दजी कहते हैं कि इन पाँचोंका अस्तित्व प्रायः सातों काण्डोंमें पाया जाता है। इतना ही नहीं अपितु स्तुतियोंमें भी पाँचों पाये जाते हैं। सूक्ष्मदर्शी महानुभाव सूक्ष्मदृष्टिसे देख लें।

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं† संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं ‡ श्रीजानकीजीवनं धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥ २॥

शब्दार्थ—**ब्रह्माम्भोधि**=ब्रह्म+अम्भोधि। ब्रह्म=वेद, यथा—'**वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म विप्रः प्रजापतिरिति।**' (अमरकोश) **अम्भोधि**=जलधि=समुद्र। **अव्यय**=निर्विकार, सदा एकरस, नित्य, नाशरहित। **आमय**=रोग। **भेषज**=दवा, ओषधि। **कृतिनः**=जिनके सब प्रकारके सुकृत जमा हों, सुकृती, पुण्यवान्।

अर्थ—वे सुकृती धन्य हैं जो वेदरूपी समुद्रसे उत्पन्न, कलिमलके सर्वथा नष्ट करनेवाले और नाशरहित, श्रीमान् भगवान् शम्भुके सुन्दर एवं श्रेष्ठ मुखचन्द्रमें सदैव शोभायमान, भवरोगकी ओषधि, सुखके करनेवाले और श्रीजानकीजीके जीवनस्वरूप सुन्दर श्रेष्ठ श्रीरामनामरूपी अमृतका निरन्तर पान करते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ **ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवम्**, यथा—*'बेद प्रान सो।'* (१। १९। १) *'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥'* (१। १०) (ख) '**कलिमल प्रध्वंसनम्**', यथा—*'कलिमल बिपुल बिभंजन नामः।'* (३। ११। १५) (ग) अव्यय, यथा—*'कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।'* नाम रामसे भी बड़ा है और राम अविनाशी हैं। अतः नाम भी अविनाशी है। (घ) शिवजी सदा जपते हैं, यथा—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* (१। १०९) (ङ) संसाररोगके लिये ओषधि, यथा—*'जासु नाम भवभेषज हरन घोर त्रयसूल।'* (७। १२४) *'संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई। तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेमहीन नहिं जाई॥'* (वि० ८१) नाम-नामीके अभेदसे दूसरा उदाहरण दिया। (च) सुखकर, यथा—*'जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥'* (१। २२। ५) *'फिरत सनेह मगन*

* मा० त० भा०—कीशके किये (बसाये) हुए नगरके चरित्र इसमें वर्णन किये गये हैं, अतः किष्किन्धा नाम हुआ। वा, इस काण्डमें कीशको धावन बनाया गया अतएव किष्किन्धा-'किस' [कीश]=वानर, किं=कौन=किया, धा=धावन्, दूत।

मा० त० सु०—कीश सुग्रीवको राज्य धारण कराया गया और सब वानरोंका पोषण किया गया अतः 'किष्किन्धा' नाम रखा। यहाँ 'धा' धातुका अर्थ 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' के अनुसार है।

† वरे (का०)। ‡ 'सुमधुरं' पाठ पंजाबीजीने दिया है। 'सुमधुर' क्योंकि अमृत है। यथा—'आखर मधुर मनोहर दोऊ।'

सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥' (१।२५।८) (छ) श्रीजानकीजीवन, यथा—'*नाम पाहरू दिवसनिसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट॥*' (५।३०) '**धन्यास्ते कृतिनः**' यथा—'*सकल कामनाहीन जे रामभगतिरस लीन। नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥*' (१। २२) '**तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥**' (वि० ४६)

टिप्पणी—२ (क) यहाँ श्रीरामनामका रूपक अमृतसे बाँधा है। अमृत समुद्रसे निकला था, यह किस समुद्रसे निकला? यही आदिमें बताया कि यह वेदरूपी समुद्रसे निकला अर्थात् वेदोंका मन्थन करके उसमेंसे साररूप रामनाम निकाला गया। वहाँ दैत्योंके नाश करने और देवताओंको बल देनेके लिये अमृत निकाला गया। यहाँ कलिमलके नाशके लिये और जापकोंको अमर करनेके लिये रामनामामृत निकाला गया। उस अमृतके पीनेवालोंका पुनर्जन्म होता है और श्रीरामनामामृत पीनेवालेका आवागमन नहीं होता। [पूरा रूपक यह होगा कि मुनि और संत देवता हैं, विचार मन्दराचल है। वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञान काण्डत्रय आदि बहुत-सी बातें हैं। उनमेंसे निर्णय करके यह सिद्धान्त निकाला गया कि सार वस्तु राम-नाम है। अथवा शङ्करजी मन्थन करनेवाले देवता हैं। इसपर कोई-कोई यह शंका करते हैं कि मानसमें शङ्करजीका वेदोंको मन्थन करके श्रीरामनामामृत निकालनेका उल्लेख नहीं पाया जाता। उसका समाधान यह है कि वेद ही वाल्मीकिजीके मुखसे रामायणरूप होकर निकले, यथा—'**स्वयम्भूः कामधेनुश्च स्तनाश्च चतुराननाः। वेददुग्धामलं शुक्लं रामायणरसोद्भवम्।**' (स्कन्दपुराण) '**वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।**' (वाल्मी० श्रीलवकुशकृत मङ्गलाचरण) इस तरह रामायण वेदोंका ही उपबृंहणरूप है और मानसमें शङ्करजीका रामचरितसे रामनामका निकालना कहा ही है। यथा—'*रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि।*' (१। २५) विनयमें शतकोटि रामचरितको अपार दधिसमुद्र कहा है। यथा—'*सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है॥*' (वि० २५४) दूसरे, यहाँ श्लोकमें शङ्करजीका निकालना नहीं कहा गया है, केवल उनके मुखमें सर्वदा सुशोभित होना ही कहा गया है। अतः यह शङ्का ही निर्मूल है। रामनाम वेदोंका प्राण है, सार है; यह तो गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंमें कहा है।] '**प्रध्वंसनं**' का आशय यह है कि रामनाम ही कलिमलके लिये समर्थ है, और कोई नहीं। (वह अमृत स्वर्गमें रहकर भी अपने आश्रित देवताओंके कामक्रोधादि किंचित् पापोंका भी 'ध्वंस' नहीं कर सकता और श्रीरामनाम अपने आश्रित जापकके समस्त कलिमलोंका 'ध्वंस' ही नहीं किन्तु 'प्रध्वंस' कर डालता है, यह विशेषता है।) (ख) '**श्रीमत्**' विशेषण देनेका भाव कि शिवजी सब प्रकारकी 'श्री' से सम्पन्न हैं और कल्याण उनसे उत्पन्न होता है; ऐसे शङ्करजी भी सदा इसे जपते और इसीमें रमते हैं, यथा—'**राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।**' [यहाँ यह भी भाव है कि भगवान् शङ्कर श्रीरामनामकी बदौलत (अर्थात् उसीके जपके प्रभावसे) विभूतिके रखनेवाले (श्रीमत्) और कल्याणके पैदा करनेवाले (शम्भु) हुए। अर्थात् श्रीमत् और शम्भु ये दोनों विशेषण रामनामसे ही प्राप्त हुए। यथा—'*नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥*' (१। २६। १) '*संतत जपत संभु अबिनासी।*' (१।४६।३) '*तप बल संभु करहिं संघारा।*' (१। १६३) इत्यादि। (गौड़जी)] (ग) मुखको चन्द्र कहनेका भाव कि जैसे वह अमृत सदा चन्द्रमामें रहता है, वैसे ही यह नामामृत सदा शिवजीके मुखचन्द्रमें रहता है। 'संशोभित' पदसे जनाया कि शिवजीकी शोभा इस नामसे ही है अतः 'श्री' पद दिया। (जिस मुखमें रामनाम नहीं है वह सर्पके बिलके समान कहा गया है, अतः वह अशोभित है। मुखसे सदा शोभित कहकर जनाया कि इसे वे स्वयं जपते तो हैं ही, साथ ही इससे दूसरोंको भी मोक्षरूपी अमृत देते हैं। यथा—'*कासी मुकुति हेतु उपदेसू।*' इसीसे सदा मुखमें नामको रखते हैं जिसमें काशीके जीवोंके कानोंमें डालनेमें देर न होने पावे।) (घ) 'संसारामयभेषज' कहकर इसकी उस अमृतसे विशेषता दिखायी। वह सांसारिक जीवन दे सकता है पर भवरोगसे नहीं छुड़ा सकता। (रामनाम भवको छुड़ाकर 'अव्यय' अविनाशी पद प्राप्त कर देता है, यथा—'*राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद*

निर्बान।' 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।') वह अमृत पीनेसे घट जाता है एवं प्रलयमें उसका नाश हो जाता है और रामनाम (चाहे जितना जपो) कभी घटता नहीं और प्रलयमें भी बना रहता है; इसीसे 'अव्यय' कहा। '**सुखकरं**' का भाव कि योग-ज्ञानादि साधनोंकी कठिनता सुखद नहीं है, उनमें कष्ट होता है और श्रीरामनाम सुखद है; यथा—*'सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥'* वह अमृत देवताओंको सुख न दे सका, रावणादिसे वे सदा पीड़ित रहे और रामनामने जापक जन प्रह्लादादिको सुख दिया, यथा—*'राम नाम नरकेसरी कनक कसिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥'* (ङ) '**श्रीजानकी जीवन**' कहकर नामके गुणका अत्यन्त महत्त्व बतलाया। (च) '**धन्यास्ते कृतिनः**' का भाव कि जो स्वर्गप्राप्तिके लिये सुकृत करते हैं जिसमें अमृत पीनेको मिले वे धन्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि पुण्य क्षीण होनेपर फिर यहाँ लौटना पड़ता है, भव-प्रवाहसे उनका छुटकारा नहीं होता और जो नामामृत पीते हैं वे उपर्युक्त कारणोंसे धन्य हैं। '**पिबन्ति**' अर्थात् सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते सभी अवस्थाओंमें नामका जप करते रहते हैं, कभी जिह्वा खाली नहीं रहती। ['सतत' शब्दसे जनाया कि जो निरन्तर पान करते हैं वे ही सुकृती हैं। कोई भी पेय पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका सतत पान करना सम्भव हो। स्वर्गीय सुधा तो नश्वर है और सुनी भर जाती है; *'सुनिअ सुधा देखिय गरल'''''''''।'* (अ०) (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—'**धन्यास्ते कृतिनः**।' यहाँपर सतत श्रीरामनामामृत पान करनेवालोंकी स्तुतिसे तात्पर्य यह है कि इस काण्डमें योग-जप-तप करनेवाले ऋषियोंसे भेंट न होगी, इस काण्डमें तो केवल उन्हीं लोगों (बंदर, भालुओं, जटायु या शबरी आदि) से भेंट होगी, जिन्हें केवल रामनामामृत-पानका अधिकार है और वे सानन्द पान करते हैं। उन्हींको सरकारने अपना सहायक चुना, अतः वे धन्य हैं।

टिप्पणी—३ प्रथम श्लोकमें नामीकी और दूसरेमें नामकी वन्दना करके जनाया कि दोनों एक हैं। नामसे ही नामा की प्राप्ति होती है।

सो०—मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥
जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद* को कृपाल संकर सरिस॥ १॥

अर्थ—मुक्तिकी जन्मभूमि, ज्ञानकी खानि, पापोंका नाश करनेवाली और जहाँ श्रीशिवपार्वतीजी रहते हैं, यह जानकर उस काशीका सेवन कैसे न किया जाय। अर्थात् उसमें वास करना उचित है।† जिस

* मन मंद—का०, ना० प्र०। भा० दा० में 'मति' पर हरताल देकर 'मन' बनाया है और छपी हुई प्रतिमें 'मति' पाठ है। मा० म० में 'मतिमंद' पाठ है। 'मन' पाठ हमने उत्तम समझा है क्योंकि इस ग्रन्थमें पूज्य कविने 'मन' को ही यत्र-तत्र उपदेश दिया है। यथा—'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग। भजहि राम।' (३। ४६) 'तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना।' (५। ६०) 'भजसि न मन तेहि राम को काल जासु कोदंड।' (६ मं०) 'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु विचार।' (६। १२०) (उपसंहार), 'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई।' (७। १३०। ८)। 'पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना'। (७। १३०) प० प० प्र० का भी यही मत है।

† कुछ महानुभावों (श्रीकरुणासिंधुजी आदि) ने इसका रामचरित वा रामनामपरक अर्थ भी किया है। इस तरह कि—(१) रामायण मुक्तिकी जन्मभूमि है, ज्ञानकी खानि है, अघोंका नाश करती है, जिसमें शम्भु-भवानी अन्तःकरणसे सदा बसते हैं और जो शोकके नाशके लिये असि (तलवार) रूप है, उसका सेवन क्यों नहीं करते?—(करु०) (२) रामनामको बालकाण्डमें 'हेतु कृसानु भानु हिमकरको' कहा है। 'र' अग्निबीज है, वह पापोंका नाश करता है, 'अ' भानुबीज है, वह ज्ञानको उत्पन्न करता है और 'म' चन्द्रबीज है। यह 'म' निश्चय [महि=म+हि (=निश्चय) 'हानिक'+'र'=हानिकर] मुक्तिका दाता है; ऐसा रामनाम जिसमें शिव-पार्वतीजी निवास करते हैं और जो समस्त शोकोंके लिये तलवार है, उसका सेवन क्यों नहीं करते?—पर ये क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं। वस्तुतः यहाँ काशीजीका ही मङ्गलाचरण है।

कठिन (भीषण, घोर) हालाहल विषसे समस्त देववृन्द जल रहे थे उसे जिन (शङ्करजी) ने पी लिया, हे मन्दबुद्धि मन! तू उनको क्यों नहीं भजता? शङ्करजीके समान कौन कृपालु है?॥१॥

टिप्पणी—१ *'मुक्ति जन्म महि'* आदि विशेषणोंके क्रमका भाव—(क) मुक्तिकी जन्म-भूमि है अर्थात् मुक्तिकी उत्पत्ति यहाँसे है। यहाँ मरनेसे मुक्ति होती है, यथा—'**काश्यां मरणान्मुक्तिः**' इति श्रुतिः। इसपर शंका होती है कि श्रुति तो यह भी कहती है कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' अर्थात् ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती; अतएव कहते हैं कि यह 'ज्ञान खानि' है अर्थात् यही पुरी ज्ञान उत्पन्न कर देती है पर पापके विनष्ट हुए बिना ज्ञान नहीं होता, यथा—**ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः**' अर्थात् पापकर्मोंके क्षय होनेपर पुरुषोंमें ज्ञान उत्पन्न होता है; अतएव कहा कि *'अघहानिकर'* है। इस प्रकार तीनों श्रुतियोंके भावोंको यहाँ ग्रन्थकारने कहकर शंकाकी जगह ही नहीं रखी और इस कथनको सर्वश्रुतिसम्मत दिखाया। यहाँतक काशीका माहात्म्य कहा। (ख) *'जहँ बस संभु भवानि'* इति। अब बताते हैं कि यह किसका निवासस्थान है।—शम्भु-भवानीका।—[नोट शम्भु-भवानी नाम देकर जनाया कि ये कल्याण कर्ता हैं, जीवोंको मरते समय मुक्ति बाँटते रहते हैं, यथा—*'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी॥'* (१। ११९। १) और *'भवानी'* नामसे जनाया कि जबसे शङ्करजी यहाँ बसते हैं तभीसे ये भी यहाँ हैं, क्योंकि भवकी पत्नी हैं। इसीसे सती, पार्वती आदि नाम न दिये; क्योंकि ये नाम पीछे हुए।]—यह कहकर तब *'सेइय कस न'* कहा। तात्पर्य यह कि शिवजी अपने स्थानमें निवास करते हैं; जीवोंको चाहिए कि काशीको इष्टदेव मानकर इसका सेवन करें। (प्र० कारका मत है कि *'शम्भु भवानि'* से अर्धनारीश्वर, अनिर्वचनीय, तुरीय ब्रह्मरूप जनाया। और, *'सेइय'* से जनाया कि *'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२। २७७) इन तीनों प्रकारके जीवोंको इसके सेवनका अधिकार है। सबको इसके सेवनसे लाभ होता है। सिद्धिको *'मुक्ति जन्म महि'* अर्थात् मुक्तिदायिनी है। साधकको *'ज्ञान खानि'* है। और विषयीके लिये *'अघ हानिकर'* अर्थात् अघनाशिनी है और जो निष्काम हैं उनके लिये *'शम्भु भवानी'* के सत्सङ्गकी प्रापक है। अथवा इन विशेषणोंसे जनाया कि सहज वाससे पाप हरती है, सत्सङ्गसे ज्ञान देती है और मरनेपर मोक्ष देती है।)

वि० त्रि०—*'सो कासी सेइय कस न'*— इससे स्पष्ट है कि काशीके सेवन न करनेका गोस्वामीजी कोई कारण नहीं देखते और निश्चय करते हैं कि यहीं काशीमें बसकर कृपालु शङ्करकी सेवा करेंगे और रामनामामृत पान करेंगे, यथा—*'तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो होइ चहै सुपासी।'* स्वयं ग्रन्थकर्ताके लेखके सामने, दूसरोंका लेख इस विषयमें प्रमाण नहीं माना जा सकता।

पं०—काशीका महत्त्व कहकर आगे काशीके स्वामीकी बड़ाई करते हैं। ☞ इस सोरठेमें वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गलाचरण है।

टिप्पणी—२ (क) *'जरत सकल सुरबृंद'* से बिषकी विषमता कही कि ऐसा विष था कि देवता न सह सके, और *'बिषम गरल जेहि पान किय'* इस कथनसे शिवजीका सामर्थ्य कहा।—इसकी पूरी कथा *'कालकूट फल दीन्ह अमी को'* (१। १९। ८) में देखिये। *'सकल सुरबृंद'* अर्थात् देवताओंके जितने भी भेद हैं, उनमेंसे प्रत्येकके वृन्द। जैसे कि वसुवृन्द, रुद्रवृन्द, आदित्यवृन्द इत्यादि। समुद्र-मन्थनके समय सभी वहाँ थे। (ख)—*'मन मंद'* का भाव कि ऐसे उपकारी कृपालु शिवको नहीं भजता; अतः तू नीच है। *'तेहि न भजसि मन मंद'* का तात्पर्य कि जैसे शिवजीने सब देवताओंको विषकी ज्वालासे बचाया वैसे ही यदि तू उनका भजन करेगा तो तुझको भी विषयाग्नि ज्वालासे बचायेंगे, क्योंकि तू विषयाग्निसे जल रहा है, यथा—*'मन करि बिषय अनल बन जरई।'* (१। ३५। ८) (पं०) (ग) *'कृपालु संकर सरिस'* इति। समस्त देववृन्दपर कृपा करके उनके कल्याणके लिये हालाहल पी लिया, इससे *'कृपाल'* और *'शंकर'* (कल्याणकर्ता) पद दिये। भाव कि उनका भजन करनेसे तुझपर भी कृपा और तेरा कल्याण करेंगे।

टिप्पणी—३ दोनों सोरठोंके क्रमका भाव।—प्रथम सोरठेमें काशीवास करनेको कहा और दूसरेमें शङ्करजीका भजन करनेको। तात्पर्य यह कि प्रथम काशीवास करे तब पापका नाश होकर ज्ञान मिले, तब शिवसेवाका अधिकारी हो और शिवसेवासे श्रीरामचन्द्रजीकी अविरल भक्ति मिले, यथा—*'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥'*

नोट—१ गोस्वामीजी अपने मनके उपदेशद्वारा समस्त जीवोंको उपदेश दे रहे हैं जिसने अपनेको उपदेश न दिया वह दूसरेको क्या उपदेश देगा। उसके उपदेशका कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ सकता। (पं० रा० ब० श०)

नोट—२ (क) बाल, अयोध्या और अरण्यकाण्डोंमें प्रथम श्रीशिवजीका मंगलाचरण है तब श्रीरामचन्द्रजीका; पर यहाँसे वह क्रम पलट गया है। प्रथम श्रीरामजीका मंगलाचरण है तब श्रीशिवजीका। यह क्रमभंग भी साभिप्राय है। अभीतक शिवजीकी वन्दना मानसके आचार्य होनेके भावसे करते आये। (आगे नोट—४ भी देखिये) आचार्यका दर्जा भगवान्‌से अधिक है और अब शिवजी हनुमान्‌रूपसे आकर श्रीरघुनाथजीकी सेवामें प्राप्त हुए हैं, अर्थात् इस काण्डसे उन्होंने सेवक-भाव ग्रहण किया है, अतः उनके स्वामी श्रीराम-लक्ष्मणजीकी प्रथम वन्दना की गयी। जबतक सेवक बनकर नहीं आये थे तबतक प्रथम वन्दना करते आये। शिवजीके अवतार हनुमान्‌जी हैं, यथा—*'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान। रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान॥'*, *'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान॥'*— (दोहावली १४२-१४३) (ख) यही कारण इसका भी कह सकते हैं कि 'यहाँ संस्कृतमें शिवजीका मंगल न करके सोरठामें क्यों किया और सुन्दरकाण्डमें हनुमान्‌जीका मंगलाचरण क्यों किया गया?' (क्योंकि उसमें उनका चरित कहा है।) अतएव आगेके काण्डोंमें शिवजीकी वन्दना श्रीरामजीके पीछे ही की गयी है। (ग) ऐतिहासिक दृष्टिसे ऐसा भी कहा जाता है कि शैव-वैष्णव-विद्रोह मिटानेके विचारसे दूर-दृष्टि पूज्यकविने बराबर शिवजीकी भी वन्दना की और इसी विचारसे प्रथम तीन काण्डोंमें उनको प्रथम स्थान दिया गया। परन्तु ग्रन्थके अनुसार तो यही सिद्ध होता है कि मानसके आचार्य होनेके भावसे एवं इससे कि *'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।'* (७। ४५) एवं *'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥'* (७। १०६) अर्थात् श्रीरामभक्तिके आचार्य भी जानकर उनका मंगलाचरण बराबर किया गया।

* इस काण्डमें काशीकी महिमाका वर्णन करनेका हेतु*

१—मानसका प्रारम्भ अयोध्यामें हुआ और वहीं तीन काण्ड समाप्त किये। प्रारम्भमें अवधकी महिमा कही और वहाँ ही इसका प्रारम्भ होना कहा, यथा—*'रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित जगपावनि॥ चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा॥ सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी॥ बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।'* इत्यादि। काशीमें किष्किन्धाकाण्ड प्रारम्भ किया; अतः यहाँ उसकी महिमा कही। (पं०) (पर यह अनुमान श्रीवेणीमाधवदासकृत मूल गुसाईं-चरितसे स्पष्ट अशुद्ध सिद्ध होता है। समस्त रामचरितमानस श्रीअवधमें ही लिखा गया। *'अवधपुरी यह चरित प्रकासा'* यह स्वयं कविने कहा है।)

२—इस मानसमें सप्त प्रबन्ध हैं। उनमेंसे यह चतुर्थ है। सप्त मुक्तिदायिनी पुरियोंमें अयोध्याका नाम प्रथम है और काशीका चतुर्थ। यथा—**'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मुक्तिदायिकाः॥'** अतः प्रथम सोपानमें अयोध्याका और चतुर्थमें काशीका माहात्म्य कहा। (पं०)

३—किष्किन्धाकाण्डकी समता काशीसे जनानेके लिये इस काण्डमें काशीका महत्त्व कहा। (क) किष्किन्धाकाण्ड श्रेष्ठ काशी है। वह मुक्ति-जन्मभूमि है और इसमें जितने कपि आये सब मुक्त हुए। (ख) वह ज्ञानखानि है और यहाँ रामदर्शन पानेसे श्रीहनुमान्‌जी, सुग्रीव, जाम्बवान् और बालि इत्यादि सबको यह ज्ञान हुआ कि राम ब्रह्म हैं, हम अपने उन स्वामीको पा गये-[यथा—*'उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥'* बालिको ज्ञान हुआ। जाम्बवन्तने साथके सब वानरोंको ज्ञान दिया। श्रीहनुमान्‌जीको अपनी शक्तिका ज्ञान हुआ। इत्यादि।] (ग) *'अघहानिकर'* यह काशीका शुद्ध कर्म

है और सीताखोजमें प्रयत्न करना यह यहाँ शुद्ध कर्म (कर्तव्य) है। (इस काण्डमें अधम अभिमानी पापी बालि निष्पाप हो गया, यथा—*'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।'* सम्पातीका कर्मजनित पाप रामदूतोंके दर्शनसे मिट गया। (प० प० प्र०) (घ) वहाँ अर्धनारीश्वर शङ्करजी एक ही रूपमें सशक्ति और यहाँ रुद्रावतार हनुमान्‌जी सशक्ति हैं, उन्होंने इसी शक्तिसे लंकादहन किया। [भवानी=भवकी शक्ति, हनुमान्‌जीकी शक्ति उनमें ही है, स्वतन्त्र साकार स्त्री देहधारी रूपमें नहीं है। शापग्रस्त होनेसे श्रीहनुमान्‌जीकी वह उन्हींमें निहित शक्ति अबतक प्रकट नहीं हुई है। इस काण्डके अन्तिम दोहेमें प्रकट होगा। इसीसे यहाँ मङ्गलाचरणमें उनका प्रत्यक्ष वन्दन नहीं किया गया। शक्ति प्रकट होनेपर तुरत ही उनका मङ्गलाचरण सुन्दरकाण्डमें करेंगे। क्योंकि प्रभाव जाने बिना कोई वन्दन नहीं करता। (पं० प० प्र०)] (ङ)—शिवजीने विष पिया। लंकादहनपर रावणकी आज्ञासे यमराजने विष बरसाया जो पावकके संयोगसे ऊपरको बढ़ा जिससे देवता जलने लगे, तब हनुमान्‌जीने उसे पीकर देवताओंको बचाया और लंकादहनसे उनको बहुत सुख दिया। यह भाव हनुमानचम्पू ग्रन्थमें पाया जाता है। इत्यादि। नोट—मयङ्क और मयूखमें विस्तृत मिलान दिया है। क्लिष्ट कल्पना समझकर यहाँ नहीं दिया जाता।

नोट—३ ऊपर दो श्लोकोंमें रघुनाथजीका मङ्गलाचरण किया। एकमें नामीकी वन्दना, दूसरेमें नामकी। वैसे ही यहाँ शङ्करजीकी वन्दना दो सोरठोंमें की। एकमें धामकी, दूसरेमें धामीकी। नामकी वन्दना इससे न की कि ये स्वयं श्रीरामनामको ही जपते हैं और उसीके प्रभावसे ऐसे शक्तिमान् हैं। इनके नामकी वन्दना करनेसे इष्टकी समताका दोष होता है।

रा० प्र०—*'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना'* में कहा गया है कि ये सप्त सोपान सप्त शास्त्र हैं। उनमेंसे इस चतुर्थ सोपानको योगशास्त्र कहा है। शिवजी योगीशशिरोमणि पतञ्जलि आदि योगप्रवर्तकोंके आचार्य हैं। अतः इस योगशास्त्ररूपी सोपानमें योगियोंके आचार्यकी वन्दना की गयी। दूसरे रुद्रावतार हनुमान्‌जीसे इसमें मिलाप हुआ है।

नोट—४ काशीजीका कामधेनुसे साङ्गरूपक बाँधकर विनयमें उसका सेवन करनको कहा है। *'सेइय'* का वही भाव यहाँ भी है अर्थात् प्रेमपूर्वक जन्मभर वास करो। यह पद पढ़ने योग्य है—*'सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी। समनि सोक संताप पाप रुज सकल सुमंगलरासी॥ मरजादा चहुँ ओर चरन वर सेवत सुरपुरबासी। तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अबिनासी॥ अंतर अयनु-अयनु भल थन फल बच्छ बेद बिस्वासी। गलकंबल बरुना बिभाति जनु लूम लसति सरिता सी॥ दंडपानि भैरव बिषान मल रुचि खल गन भयदासी। लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन करनघंट घंटा सी॥ मनिकर्निका बदन ससि सुंदर सुरसरि-सुख सुखमासी। स्वारथ परमारथ परिपूरन पंचकोस महिमासी॥ बिस्वनाथ पालक कृपालुचित लालति नित गिरिजा सी। सिद्धि सची सारद पूजहिं मन जुगवत रहत रमा सी॥ पंचाक्षरी प्रान मुद माधव गव्य सुपंचनदा सी। ब्रह्मजीव सम रामनाम जुग आखर बिस्वबिकासी॥ चारितु चरति करम कुकरम करि मरत जीव गनघासी। लहत परमपद पय पावन जेहि चहत प्रपंच उदासी॥ कहत पुरान रची केसव निज कर करतूति कला सी। तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जौं भयो चहै सुपासी॥'*— (विनय० २२। १—९)

'मारुति-मिलन'-प्रकरण

आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्बत नियराया॥ १॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे चले और ऋष्यमूक पर्वत निकट आ गया अर्थात् उसके पास पहुँचे॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'आगे चले'* इति। श्रीसीताजीको खोजनेके निमित्त आगे चले; परन्तु यहाँ खोजना नहीं लिखते, क्योंकि खोजना प्रथम लिख आये हैं, यथा—*'पुनि सीतहिं खोजत द्वौ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥'* (३। ३३। ४) (यह भी हो सकता है कि जब श्रीशबरीजीने श्रीरामजीसे कहा कि *'पंपासरहि*

जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥ सो सब कहिहि देव रघुबीरा।' तब वे पंपासरपर आये। यहाँ स्नानकर बड़े प्रसन्न होकर बैठे—*'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥'* (३। ४१। ४) अब शान्त हैं, सुग्रीवसे मिलनेकी आशासे ऋष्यमूक पर्वतकी ओर जा रहे हैं। अतः सीताजीको खोजना न कहा। वाल्मी० ४। ३। ३७ से भी इसकी पुष्टि होती है। यथा—**'विदिता नौ गुणा विद्वन्सुग्रीवस्य महात्मनः। तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम्॥'** अर्थात् महात्मा सुग्रीवके गुण हम लोगोंको मालूम हैं, हम लोग भी उन्हींको ढूँढ़ रहे हैं। इस तरह वाल्मीकिजीके मतकी भी रक्षा हो गयी।) (ख) *'बहुरि'* का भाव कि श्रीशबरीजीके आश्रमसे चलकर पंपासरपर आकर स्नान करके वहाँ बैठ गये थे; अब वहाँसे फिर आगे चले।

नोट—१ *'आगे चले बहुरि'* के और भाव ये कहे जाते हैं।—(क) जैसे पहले आप आगे चला करते थे और लक्ष्मणजी पीछे, वैसे ही फिर आप आगे चले। (प्र०, शीला) (ख) राज्य छूटा, माता-पिता छूटे, देश छूटा और वनमें आनेसे सब लोग छूटे, उसपर भी सीताहरण हुआ; इतनी विपत्ति पड़नेपर भी पीछे फिरनेका विचार न किया, किन्तु फिर भी आगेहीको चले, क्योंकि *'रघुराई'* हैं। (प्र०)(ग) *'रघुराया'* का भाव कि शूरवीर (और धीर एवं धर्मधुरंधर) हैं। दूसरा भाव कि इस काण्डमें राजधर्मको प्रधान करेंगे। (प्र०) (घ) श्रीसीताजीकी खोजमें श्रीराम-लक्ष्मणजी कभी उलटे, कभी सीधे चलते थे अर्थात् कभी लक्ष्मणजी आगे हो जाते थे और कभी श्रीरामजी। पर पंपासरपर बैठनेके बाद अब वहाँसे आगे चले। (मा० म०)

☞ जब-जब कहीं ठहरना लिखा है तब उसके बाद पुनः चलना लिखा गया है। इसी तरह पञ्चवटी-निवासके पूर्व कहा है—*'पुनि रघुनाथ चले बन आगे।'* और जहाँ आगे और पीछे चलनेका क्रम दिखाया है वहाँ दोनों भाइयोंका नाम दिया है, यथा—*'चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा।'*, *'आगे राम लखन पुनि पाछे।'* (३। ६) *'आगे रामु लषन बने पाछे।'* (२। १२३) इन उदाहरणोंके अतिरिक्त वनयात्रामें *'आगे'* पद नहीं आया है। साधारण अर्थ तो यही है कि पंपासरसे आगे चले जैसे *'चले बन आगे'* में। शेष भाव पाण्डित्यके हैं। रामायण कामधेनु है, जितने भाव चाहो निकालते जाओ।

टिप्पणी—२ (क) पंपासरपर नारदजीसे श्रीरामचन्द्रजीने स्त्रीके अनेक दोष वर्णन किये और आप स्वयं स्त्रीको खोजते फिरते हैं—इस चरित्रसे यह सूचित करते हैं कि गृहस्थको स्त्री-संग्रह उचित है और विरक्तको अनुचित। (ख) इस काण्डके प्रारम्भमें *'रघुराया'* शब्द देनेका भाव कि-(१) ये रघुवंशके राजा हैं, अतएव ये नीतिके अनुकूल कार्य करेंगे—सुग्रीवसे मित्रता करेंगे, उसके शत्रुको मारेंगे और अपना कार्य करावेंगे—राजाकी मित्रता राजासे ही होना योग्य है। अपराधीको दण्ड देना राजाका ही काम है, इत्यादि।) [नारदजीको *'दारुन दुखद मायारूपी नारि'* ऐसा उपदेश देकर भी स्वयं स्त्रीकी खोज करनेसे *'पर उपदेस कुसल बहुतेरे'* यह दोष लागू होता है। इसके निवारणार्थ *'रघुराया'* शब्द दिया। अर्थात् राजा हैं अतः उनका कर्तव्य है कि अन्यायी, अत्याचारी, आततायीको दण्ड दें। यदि राजा ही अपनी स्त्रीको चुरा ले जानेवालेको दण्ड न देगा तो वह प्रजाका संरक्षण कैसे कर सकेगा, यह शंका प्रजाके हृदयमें उत्पन्न हो जानेसे वह राजाका अपमान करेगी। अपराधीको दण्ड देना राजाका कर्तव्य है और क्षमा करना विरक्त संन्यासीका कर्तव्य है। पत्नीके अपराधीको दण्ड न देनेसे रघुकुल कलंकित होगा। (प० प० प्र०)] (२)—*'रघुराया'* शब्दपर ही चलनेका प्रसंग छूटा है, यथा—*'देखी सुंदर तरुबर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया॥'* (३। ४१) बीचमें नारद-संवाद कहा। फिर उसी *'रघुराया'* शब्दसे चलनेका प्रसंग उठाया है। [यहाँ *'आगे चले बहुरि रघुराया।'* कहकर पूर्व अरण्यकाण्डसे सम्बन्ध मिलाया है। वहाँ *'बैठे अनुज सहित रघुराया।'* और यहाँ *'आगे चले बहुरि रघुराया'* (पां०)] (ग) *'रिष्यमूक पर्बत'''''''* इति। बीचमें अनेक पर्वत मिले पर उनका नाम कविने नहीं दिया; क्योंकि वहाँ प्रभुका कोई कार्य नहीं हुआ और यहाँ सुग्रीवसे मित्रता होगी, सीता-शोध-कार्यका आरम्भ होगा; अतएव इस पर्वतका नाम दिया।

नोट—२ 'ऋष्यमूक' नाम क्यों पड़ा? मयंककारका मत है कि सात शृङ्ग होनेसे यह नाम पड़ा। वा, मतंग ऋषि मूक (मौन) होकर यहाँ तपस्या करते थे, इससे यह नाम हुआ। काष्ठजिह्वा स्वामीजी कहते हैं कि मतंग ऋषिकी यहाँ अमूक ज्योति जागती रहती है; अतएव ऋष्यमूक नाम हुआ।—*'ऋषि मतंग जहँ मूकन गाजत'* अर्थात् बड़े वक्ता और किसीसे दबनेवाले नहीं थे। (रा० प० प०) पं० श्री रामवल्लभाशरणजी महाराजसे सुना था कि मृगोंकी कई जातियाँ हैं, जैसे गोकर्ण, केन, ऋष्य आदि। यहाँ ऋष्य नामके मृग बिलकुल मूक होकर रहते थे, अतः ऋष्यमूक नाम पड़ा। यहाँ सत्यवादी ऋषि रहा करते थे, झूठ बोलनेवाले और अधर्मी वहाँ जाकर मर जाते हैं। अथवा, ऋषि यहाँ अमूक होकर वेद, नाम और चरित्र उच्चारण किया करते थे, अतः यह नाम पड़ा। (वै०)

कबन्धने श्रीरामचन्द्रजीसे बताया था कि यह पर्वत पुष्पवाले वृक्षोंसे युक्त है। उसपर बड़े दुःखसे चढ़ा जा सकता है, साँप उसके रक्षक हैं। इसे बहुत पहले ब्रह्माने बनाया था। इसपर सोता हुआ पुरुष जो धन पानेका स्वप्न देखता है वह उसे जागनेपर मिलता है। दुराचारियोंको सोतेमें राक्षस मार डालते हैं। यथा—**'उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकालेऽभिनिर्मितः।'**""""इत्यादि। (वाल्मी० ३। ७३। ३२—३४)

र० ब०—इस काण्डमें प्रथम 'छत्रबंध' चौपाई लिखी। कारण यह है कि इसमें सुग्रीवको राज्य देना और छत्रधारी बालिका वध-वर्णन है। जो स्वयं छत्रधारी न होगा वह दूसरेको क्या छत्रधारी बनायेगा। गोस्वामीजीकी स्वामिभक्तिका यह भी एक उदाहरण है—राज्य देना है, अतः पहले ही उन्होंने स्वामीपर छत्र लगा दिया।

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बलसींवा॥ २॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥ ३॥

अर्थ—वहाँ (उस पर्वतपर) श्रीसुग्रीवजी मन्त्रियोंसहित रहते थे। अतुलित बलकी सीमा श्रीराम-लक्ष्मणजीको आते हुए देख अत्यन्त डरकर वे बोले—हे हनुमान्! सुनो, ये दोनों पुरुष बल और रूपके निधान (सिन्धु) हैं॥ २-३॥

टिप्पणी—१ (क) *'सचिव सहित'* का भाव कि राज्यके सात अंग हैं—'राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, किला और सेना। इनमेंसे सुग्रीवके पाँच अंग नष्ट हो गये हैं, दो बचे हैं, एक राजा (स्वयं आप) और एक मन्त्री। सात अंगोंमेंसे मंत्री प्रधान अंग है; अतः वे इनको साथ रखे हुए हैं। (प्रयागराजके वर्णनमें ये सातों अंग कविने दिखाये हैं। यथा—*'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥ चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥ छेत्र अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा। सपनेहु नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥ सेन सकल तीरथ बर बीरा।'* (२। १०५) श्रीविभीषणजी भी जब लंकासे देश, कोष, मित्र आदि सबको छोड़कर निकले तब उन्होंने भी एक अंग मंत्रीको न छोड़ा, मन्त्रियोंको साथ रखा। यथा—*'सचिव संग लै नभपथ गएऊ।'* (५। ४१। ९) इससे जनाया कि यदि यह एक अङ्ग राजाका साथ न छोड़े तो राज्य आदि अन्य पाँचों अङ्ग राजाको पुनः प्राप्त हो सकते हैं; जैसे सुग्रीव और विभीषणको प्राप्त हुए।) (ख) श्रीशबरीजीने कहा था कि *'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥'*, पर मित्रता ऋष्यमूकपर हुई। इससे निश्चय हुआ कि यहाँ तक पंपासरकी भूमि है। यथा—**'इतः समीपे रामास्ते पंपानाम सरोवरम्। ऋष्यमूकगिरिर्नाम तत्समीपे महानगः॥'** (अ० रा० ३। १०। ३६) अर्थात् हे राम! इस स्थानके निकट ही पंपा नामक सरोवर है और उसके समीप ऋष्यमूक नामक एक बड़ा पर्वत है। (ग)—*'आवत देखि अतुल बलसींवा'* इति। रूप देखकर अतुलबलसींव जान लिया, यथा—*'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझै। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझै। चितइ न सकहु रामतन, गाल बजावहु। बिधिबस बलउ लजान, सुमति न लजावहु॥'* (जानकीमंगल ३७) अर्थात् साधु राजा कुटिल राजाओंसे कहते हैं कि जहाँ तेज, प्रताप और रूप है वहाँ बल भी जान लेना चाहिये।

नोट—१ बलवान् वीर पुरुष देखकर दूसरेका अंदाजा कर लेते हैं। श्रीहनुमान्जीने लंकाभरके योद्धाओंको

देखकर यही निश्चय किया था कि ऐसा कोई नहीं है जिसे हम न जीत सकें। यथा—*'देखी मैं दसकंठ सभा सब मोते कोउ न सबल तो।'* (गी० ५। १३) (रावणकी सभाके सब श्रेष्ठ वीरोंको देखकर हनुमान्‌जीने उससे यह कहा है।) इसी तरह हनुमान्‌जीने पर्वतपर चढ़कर लंकाके अत्यन्त बलवान् मल्लोंको देखकर (*'कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं'*) निश्चय किया था कि हम अकेले सबको परास्त कर सकते हैं तभी तो वे सीताजीसे कहते हैं—*'परम सुभट रजनीचर भारी॥ तिन्ह कर भय माता मोहिं नाहीं।'* (५। १७) मेघनादको देखते ही वे उसे दारुण भट समझ गये, यथा—*'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥'*

बाबा हरिदासजी *'अतुल बलसींव'* जाननेके कारण ये कहते हैं। १—सर्व-उरवासी श्रीरामजीने जना दिया, जिसमें वे हनुमान्‌जीको भेजें। शिवरूप आचार्य हनुमान्‌जीद्वारा सुग्रीवको प्राप्ति करानेके लिये ऐसा किया। २—श्रीरामजी सूर्यवंशी और सुग्रीव सूर्यके पुत्र; अतएव सूर्यने जना दिया जिसमें दोनों मिल जायँ। ३—देव अंश होनेसे। वा, ४—भावी प्रबल है, बालिका काल निकट है, इससे जान गये।

नोट—२ (क) *'अति सभीत'* का भाव कि सुग्रीव तो बालिसे सदा सभीत रहते ही थे, यथा—*'यहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं॥'* (४। ६। १३) अब इनको निःशङ्क घोर वनमें विचरण करते और *'अतुलबलसींव'* देखकर *'अति सभीत'* हुए। (पं० पां०)*'अति सभीत'* से सूचित हुआ कि सुग्रीवके हृदयमें भयानक रसका स्थायी भाव भय बहुत दिनसे है। श्रीसुग्रीवजीको वीरका प्रयोजन है, अतः रघुनाथजीने वीरस्वरूपका बोध कराया। (मा० त० भा०) पुनः भाव कि मन्त्री सभीत थे और ये *'अति सभीत'* थे। (मा० त० प्र०) अथवा, यह सोचकर सभीत हुए कि यदि भाग चलूँ तो आगे कहीं बालि न खड़ा हो और यदि तपस्वी समझकर बैठा रहूँ तो कहीं ऐसा न हो कि ये आकर मुझे मार डालें या बाँधकर बालिके पास ले जायँ तब क्या होगा, यह सोचकर *'अति सभीत'* हुए। (पं०)

(ख) *'अति सभीत'* होना सुग्रीवके *'सुनु हनुमाना'* सम्बोधनसे भी सूचित हो रहा है। अत्यन्त त्वरामें आतुरता और आर्त्त होनेसे *'सुनु'* एकवचनका प्रयोग किया है। (प्र०) नहीं तो अन्य प्रसङ्गोंमें बहुवचनमें सम्बोधित करते हैं; यथा—*'अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा॥'* (४। १९। ४) *'कहहु पाख महँ आव न जोई।'* इसी तरह लक्ष्मणजीको क्रुद्ध देखकर अत्यन्त भय हो जानेसे पुनः एकवचनका प्रयोग हुआ है, यथा—*'कह कपीस अति भय अकुलाना। सुनु हनुमंत संग लै तारा॥'* (४। २०) (प० प० प्र०)

नोट—३ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रेष्ठ आयुध धारण किये हुए दोनों वीर भाइयों महात्मा श्रीराम-लक्ष्मणको देखकर सुग्रीव शङ्कित हो गया। उसका हृदय बेचैन हो गया, वह चारों दिशाओंमें देखने लगा। वह वानरश्रेष्ठ किसी स्थानमें स्थिर न रह सका। दोनों महाबली वीरोंको देखकर उसका चित्त परम भयभीत हो गया, उसका मन स्थिर नहीं होता, वह कहीं स्थिर होकर बैठ न सका। ऋष्यमूक पर्वतके समीप विचरनेवाले अद्‌भुत दर्शनीय दोनों वीरोंको देखकर वह विषादयुक्त हो गया, अत्यन्त चिन्ता व्याप गयी और भयके भारसे वह दब गया। यथा—'**तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ। वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शंकितोऽभवत्॥ उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन्। न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद्देशे वानरपुङ्गवः॥ नैव चक्रे मनः स्थातुं (स्थाने) वीक्ष्यमाणौ महाबलौ। कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह॥**'—(सर्ग २। १—३) पुनः यथा—'**तावृष्यमूकस्य समीपचारी चरन्ददर्शाद्‌भुतदर्शनीयौ।'''''दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम चिन्तापरीतो भयभारभग्नः॥**' (सर्ग १।१२८-१२९) सुग्रीवजीकी यह सब दशा कविने *'अति सभीत'* शब्दोंसे जना दी है। भयका कारण आगे कवि स्वयं लिखते हैं।

नोट—४ (क) *'पुरुष'* से जनाया कि ये अपने बातके धनी हैं, जो प्रतिज्ञा करते हैं उसको पूर्ण करनेका इनमें पुरुषार्थ भी है। वचनके लिये प्राणतक देना उनको सहज है यह दृढ़तासे ज्ञात होता है। यही पुरुषत्व है। (मा० म०) (ख) *'बल रूप निधान'* का भाव कि ये दोनों बातें एक साथ प्रायः नहीं होतीं पर इनमें ये दोनों हैं, अतः ये कोई विलक्षण ही पुरुष हैं।

धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सयन बुझाई॥ ४॥
पठए* बालि होहिं मन मैला। भागौं तुरत तजौं† यह सैला॥ ५॥

अर्थ—ब्रह्मचारीका रूप धारण करके तुम जाकर देखो और उनके हृदयका भाव अपने हृदयमें समझकर जानकर इशारेसे हमको समझाकर कह देना॥ ४॥ यदि ये मैले मनवाले बालिके भेजे हुए हों तो (एवं बालिके भेजे हुए होंगे तो इनका मन मैला होगा। वा, बालिके भेजे हुए हों और मनमें मैल हो तो) मैं इस पर्वतको छोड़कर तुरन्त भाग जाऊँ।

नोट—१ अ० रा० सर्ग १ में इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक इसी प्रसङ्गमें हैं। यथा—'**गच्छ जानीहि भद्रं ते वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः॥ बालिना प्रेषितौ किंवा मां हन्तुं समुपागतौ। ताभ्यां सम्भाषणं कृत्वा जानीहि हृदयं तयोः॥ यदि तौ दुष्टहृदयौ संज्ञां कुरु कराग्रतः॥**' (८—१०) अर्थात् हे सखे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर इनके पास जाओ। उनसे बातचीत करके उनके हृदयकी जान लेना कि वे बालिके भेजे हुए हमारे मारनेके लिये तो नहीं आ रहे हैं। यदि वे दोनों दुष्टहृदय हों तो हाथके अग्रभागसे हमको इशारा कर देना।

नोट—२ '***धरि बटु रूप***' इति। 'बटु' का अर्थ आगे कवि स्वयं करते हैं, यथा '***बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ।***' ***बटु***=विप्र। बटु रूप क्यों धारण करनेको कहा गया? उत्तर—(क) वानररूप मनुष्योंसे बातचीत करनेके उपयोगी नहीं, यह वाल्मीकिजीका मत है। यथा—'**कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः। भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥**' (४। ३। २) कपि शठबुद्धि होते हैं और यहाँ वचनप्रवीणताका काम है, अतः उसके योग्य शरीर धारण किया। (ख) श्रीराम-लक्ष्मणजी तपस्वी वेषमें हैं पर धनुष, बाण, तरकश आदि धारण किये हैं, इससे देखनेसे क्षत्रिय जान पड़ते हैं जैसा हनुमान्‌जीके प्रश्नसे विदित है, यथा—'***छत्रीरूप फिरहु बन बीरा।***' क्षत्रिय ब्राह्मणभक्त होते हैं। अतः विप्ररूपसे गये। (मा० त० भा०) (ग) ब्रह्मचर्याश्रममें रहनेवाला, विद्याध्ययन करनेवाला यह बटुरूप सबका कृपापात्र होता है; क्योंकि छोटी अवस्थासे ही ये विद्याध्ययन और धर्ममें लग जाते हैं जब कि अन्तःकरण शुद्ध होता है। अतः इनसे लोग अपना हाल कहनेमें हानि नहीं समझते। भस्मासुरसे शिवजीको बचानेके लिये भगवान्‌ने ब्रह्मचारी बनकर उनसे सब मर्म पूछा था कि क्या करना चाहता है—(व्यासजी) (घ) ब्राह्मण अवध्य है, दुष्ट हृदय भी होंगे तो भी ब्रह्मचारीको न मारेंगे। दूसरे, ब्रह्मचारी प्रायः वनमें रहा ही करते हैं, इससे वहाँ बटुको देखकर किसी प्रकारका संदेह भी न होगा। (मा० म०) हनुमान्‌जी सुग्रीवके बुद्धिमान् मन्त्री और बलवान् हैं। यदि ये मार डाले गये तो सुग्रीवको एक बड़े भारी मित्रकी हानि हो जायगी; इससे बटुरूपसे जानेको कहा क्योंकि यह अवध्य है। (शीला) (ङ) विद्यार्थीका स्वभाव चञ्चल होता है। बिना प्रयोजन भी उनका पूछना अनुचित नहीं होगा। (पाँ०) (च) यह वेष मङ्गलकारी माना जाता था। ☞ स्मरण रहे कि हनुमान्‌जीने विभीषणजी एवं भरतजीसे (उत्तरकाण्डमें) मिलनेके लिये भी विप्ररूप ही धारण किया, यथा—'***बिप्ररूप धरि बचन सुनाये***' और '***बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत।***' पर सीताजीके पास बानररूपसे ही गये जिसका कारण उस प्रसंगमें दिया गया है। प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'सुग्रीवने बटुरूप धारण करनेको कहा और हनुमान्‌जीने विप्ररूप लिया। क्योंकि बटु अल्पवयस्क होते हैं, कोई बुद्धिमान् उनके साथ महत्त्वके विषयकी चर्चा न करेंगे। दूसरे पासमें कोई ऋषिकुल भी नहीं है, ब्रह्मचारीरूपमें कपटकी शङ्का सम्भव थी। बटु और विप्र एक नहीं है, यथा—'***सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।'''''''सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई।***' (२। १७२) परन्तु मेरी समझमें प्रथम 'बटु' और यहाँ 'बिप्र' शब्द देकर यह जनाया है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर गये, क्षत्रिय आदि वर्णोंके ब्रह्मचारी नहीं बने। इस प्रकार दो जगह दो भिन्न शब्द देकर

* पठवा—को० रा०। † तजौ-भा० दा०। तजौं—का०। तजउँ—ना० प्र०।

अ० रा० के **'वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः।'** (३। १। ८) का भाव यहाँ बता दिया गया। यही भाव मेरी समझमें ***'प्रभु हनुमंतहिं कहा बुझाई। धरि बटुरूप अवधपुर जाई॥ भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु।'*** (६। १२०) और ***'बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत।'*** (७। १) का है। श्रीरामजीने बटुरूपसे जानेको कहा, अतः ब्राह्मण बटुरूपसे गये।

नोट—३ (क) *'जानि जिय'* इति। सम्भाषणद्वारा, उनके वचनों, चेष्टाओं और रूपके द्वारा उनके हृदयके भावोंको जाननेको कहा और यह कहा कि शुद्ध हृदय हों तो भी वचनों और रूपोंके द्वारा इनके भीतरी भावोंको जाननेका प्रयत्न करो। दुष्टभावनासे तो यहाँ नहीं आये हैं। यथा—**'इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च॥ लक्षयस्व तयोर्भावं·······। शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम। व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टतानयोः॥'** (वाल्मी० ४। २। २४—२७) (ख) ***'सैन बुझाई।'*** अध्यात्ममें हाथके अग्रभाग अर्थात् अङ्गुलीसे इशारा करनेको कहा है। मतभेदके कारण कविने केवल ***'सैन बुझाई'*** पद देकर सबके मतोंकी रक्षा की। (मा० त० भा०) दोनों भाई उत्तरसे दक्षिणको आते थे और हनुमान्‌जी दक्षिणसे उत्तरको जाते हैं; अतएव सुग्रीवके पीछे पड़नेसे सैन बताना नहीं बनता, इस कारण सुग्रीवके वचनमें यह ध्वनि है कि तुम दक्षिणकी तरफ फिरकर खड़े होना जिसमें सैन बताते बने। (मा० म०) यह भाव (वाल्मी० ४। २। २६) **'ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव।'** (अर्थात् तुम मेरे सन्मुख खड़े होकर उनसे बातचीत करना) से सिद्ध होता है। यद्यपि सुग्रीवने संकेत करनेको कहा था तथापि कोई संकेत अ० रा० में भी नहीं पाया जाता। कारण कि संकेत तब किया जाता जब वे शत्रुपक्षके होते। मित्रपक्षके होनेका संकेत ***'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई'*** से हो गया। यही संकेत है।

नोट—४ ***'पठए बालि होहिं मन मैला।'*** इति। (क) बालिको पापी कहनेका भाव यह है कि उसने सुग्रीवकी स्त्रीको हरण करके उसके साथ सम्भोग किया; यथा—*'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी।'* तात्पर्य यह कि पापीके भेजे होंगे तो इनके हृदय भी पापी होंगे, सम्भाषण करनेसे जान लिये जायँगे। (मा० त० भा०) (ख) बालिने अवश्य इन्हें भेजा होगा, यह संदेह होनेका कारण है, अतः कहा कि ***'पठए बालि होहिं।'*** फिर कारण कहा कि वह ***'मन मैला'*** है। इसीको विस्तारसे वाल्मी० सर्ग २ श्लोक २१, २३ में यों कहा है कि 'राजाओंके बहुत मित्र होते हैं। विश्वास करना उचित नहीं। बालि बुद्धिमान् और दूरदर्शी है। अपने शत्रुके नाशका प्रयत्न बड़ी योग्यतासे करेगा।' यथा—**'वालिप्रणिहितावेव शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ। राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः॥'** (२१) **'कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शिनः। भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः॥'** (२३) नीति भी है कि *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'* (२। २२९। २) यहाँ हम उससे निर्भय हैं; क्योंकि वह यहाँ शापवश आ नहीं सकता, अतएव उसने दूसरेको यहाँ हमारे मारनेको अवश्य भेजा होगा। इस प्रकार ***'मन मैला'*** बालिका विशेषण हुआ। पुनः, यह दोनों भाइयोंके लिये भी है। यदि यह शङ्का हो कि भला बालिके भेजे हुए होंगे तो वह अपना मर्म क्यों कहेंगे तो उसके लिये चिह्न बताते हैं कि उसके भेजे होंगे तो इनका मन भी मैला होगा; जो बिना कारण दूसरेका वध करने जायगा उसका मन प्रसन्न नहीं होगा, वे ठीक उत्तर न देंगे, इधर-उधर टालेंगे, बातों और चेष्टासे हृदयकी साधुता एवं दुष्टता प्रकट हो जायगी। यह भाव अध्यात्मके **'यदि तौ दुष्टहृदौ'** और वाल्मी० के **'विज्ञेया दुष्टतानयोः।'** (२। २७) इन वचनोंसे प्रमाणित होता है। (मा० त० भा०, पं०, वै०, प्र०) (ग) ***'कहेसु जानि जिय सैन बुझाई'*** में दुष्टहृदय होनेपर संकेत करनेको कहा है। वह संकेत भी ***'मन मैला'*** शब्दोंसे इस प्रकार अर्थ करनेसे निकल आता है कि ***'पठए बालि होहिं मन मैला'*** अर्थात् बालिके भेजे हों तो ***'मन मैला'*** (उदास) हो जाना। (तो हम जान लेंगे।) (पां०) अथवा, (घ) ***'पठए बालि होहिं मन मैला'*** —बालिने भेजा है (यह इससे समझता हूँ कि मेरा) मन मलिन (उदास) हो रहा है। (मा० म०) इस प्रकार मा० म० कार ***'मन मैला'*** का सम्बन्ध बालि और सुग्रीव दोनोंके साथ मानते हैं। यदि बालि, सुग्रीव और श्रीराम-लक्ष्मण तीनोंके साथ इसे ले लें तो और भी उत्तम अर्थ हो जाता है। ☞मा० त० भा० में 'होहिं' पाठ है। जिससे दोनों भाव निकल सकते हैं। पर 'होहिं' पाठ जो भा० दा०

और का० में है, उससे ये भाव नहीं निकल सकते। (ङ) 'बालिके भेजे हुए हों और मन मैले हों, इस अर्थमें भाव यह है कि प्रथम तो यह जाननेका प्रयत्न करना कि बालिके भेजे हुए तो नहीं हैं; क्योंकि हमें सदा उसीकी शङ्का रहती है। यदि वे बालिके भेजे हुए हों तब यह जाननेका प्रयत्न करना कि उनके मनमें मैल है या उनके मन शुद्ध हैं अर्थात् वे हमारे हित हैं या अनहित। क्योंकि यह सम्भव है कि वे हम दोनों भाइयोंमें सुलह करानेके लिये भेजे गये हों। (श्रीनंगेपरमहंसजी)

मा० त० भा०—'*भागौं तुरत*......' का भाव कि पास आ जानेपर इनसे न बच सकेंगे। यहाँसे भागकर कहाँ जायँगे? इसका उत्तर यह है कि सुग्रीवको भागनेका बल है। वे जानते हैं कि भागनेसे बालि हमको न पायेगा जैसे पहले नहीं पाता रहा। बालि दौड़नेमें सुग्रीवको क्यों नहीं पाता था? इसका उत्तर यह है कि ये सूर्यके अंशसे हैं और सूर्य अत्यन्त शीघ्रगामी हैं। यहाँ भयानक रसका तर्क संचारी भाव है। [सुग्रीव चारों दिशाओंमें भागकर गये पर कहीं वे बालिसे न बचे तब ऋष्यमूकपर आकर रहे जहाँ बालि शापके कारण आ नहीं सकता था तो अब भागकर कहाँ जायँगे? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर अ० दी० कार यह देते हैं कि सुग्रीव पर्वतके चारों शिखर छोड़कर पर्वतके भीतर बीचमें घर बनाकर निवास करनेको कहते हैं।]

नोट—५ हनुमान्‌जीको ही क्यों यहाँ सम्बोधन किया और इन्हींको क्यों भेजा? इसका कारण यह है कि जब सुग्रीव अत्यन्त भयभीत हुए और उन्होंने सबसे कहा तो और सब भी बहुत भयभीत हो गये थे। केवल हनुमान्‌जी निर्भय रहे और इन्होंने सुग्रीवको समझाया कि डरनेका कारण नहीं, विज्ञान बुद्धिसे राजाको काम लेना चाहिये इत्यादि। तब सुग्रीवने हनुमान्‌जीके सुन्दर वचन सुनकर इन्हें सबमें परम बुद्धिमान् और निर्भय समझकर इन्हींको सम्बोधन करके इन्हींसे ब्राह्मणरूपसे जाकर पता लगानेको कहा। ऐसा वाल्मीकीयमें कहा है। यथा—'**ततस्तु भयसंत्रस्तं वालिकिल्बिषशङ्कितम्। उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः॥ संभ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान्। मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः॥**' ......**बुद्धिविज्ञानसम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर। नह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि॥ सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः। ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह॥**' (सर्ग २। १३—१९) अर्थात् बालिके कुचक्रसे शंकित और डरे हुए सुग्रीवसे वाक्यमें पण्डित हनुमान्‌जी बोले कि बालिके द्वारा अनिष्टकी शङ्का आप छोड़ दें, इस मलय पर्वतपर वह नहीं आ सकता।......बुद्धि और विज्ञानसे युक्त होकर आपको दूसरोंकी चेष्टाओंसे उनका भाव समझकर अपनी रक्षाका उपाय करना चाहिये। जो राजा बुद्धिका त्याग कर देता है वह अपनी प्रजाका शासन नहीं कर सकता। हनुमान्‌जीके ये सुन्दर वचन सुनकर सुग्रीव हनुमान्‌जीसे अधिक सुन्दर वचन बोले। ☞सुग्रीवजी जानते हैं कि इनके समान तेजस्वी, बली, बुद्धिमान्, पराक्रमी, देशकालानुवर्ती तथा नीतिज्ञ पृथ्वीपर नहीं है। यथा—'**तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।**......**त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः। देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित॥**' (वाल्मी० ४। ४४। ६-७) सुग्रीवको पूर्ण विश्वास है कि हनुमान्‌जी ही कार्य सिद्ध करेंगे—'**स हि तस्मिन्हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने।**' (४। ४४। १) '**कार्यसिद्धिं हनुमति**', '**ततःकार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति।**' (४। ४४। ८) और ऐसा हुआ भी। हनुमान्‌जीने सब बात भी पूछ ली और दोनों भाइयोंको पीठपर चढ़ाकर ले चले जिसमें सुग्रीवजी समझ जायँ कि इनसे भय नहीं है, प्रत्युत इनसे सहायताकी आशा है।—अतः इन्हींको भेजा।

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥ ६॥

अर्थ—ब्राह्मणरूप धारण करके कपि हनुमान्‌जी वहाँ गये और माथा नवाकर इस प्रकार पूछने लगे॥ ६॥

नोट—१ '*माथ नाइ*' इति। ब्राह्मण होकर क्षत्रियोंको मस्तक कैसे नवाया? यह शंका उठाकर उसका समाधान महानुभावोंने अपनी-अपनी मतिके अनुसार जो किया है वह नीचे दिया जाता है—

१ पाँ०, प्र०, मा० त० भा०—ईश्वर जानकर वा देवबुद्धिसे प्रणाम किया। हनुमान्‌जीके प्रश्नसे यह बात स्पष्ट है, यथा—'*की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥*'......*की तुम्ह अखिल*

भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।' ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नर-नारायण और अखिल भुवनपति ये सब प्रणाम करने योग्य हैं। इसीसे प्रणाम किया।

२ श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीके तेज प्रतापका यह प्रभाव है कि श्रीजनकमहाराज और उनके मन्त्री, भूसुरवृन्द आदि जो उनके साथ विश्वामित्रजीसे मिलने गये थे सभीने बिना जाने ही बरबस उनका अभ्युत्थान किया था। यथा—*'उठे सकल जब रघुपति आये।'* (१। २१५) और उनके चित्तमें इनकी ईश्वरता झलक पड़ी, यथा—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोई आवा॥'*········(१। २१६) जब *'भूसुर बर गुरु ग्याति'* शतानन्दजी आदिने अभ्युत्थान दिया तब यहाँ आश्चर्य क्या? अपनेसे अधिक तेजस्वी प्रतापशाली महात्माको देखकर स्वतः ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि बिना जाने ही हमारा मस्तक उनके सामने झुक जाता है। इसके प्रमाणमें यह श्लोक भी है—**'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥'** (मनुस्मृति आचाराध्याय) अर्थात् बूढ़ेके आनेसे जवानके प्राण ऊपरको चढ़ जाते हैं। उठने और अभिवादनसे फिर ज्यों-के-त्यों हो जाते हैं। (विशेष १। २१५। ६ में देखिये।)

प्रणाम करना वाल्मी० और अ० रा० में भी है। यथा—**'विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च।'** (वाल्मी० ४।३।३) **'विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत्।'** (अ० रा० १।४।११) दोनों रामायणोंसे सिद्ध होता है कि दोनों भाइयोंमें बड़ा तेज उन्होंने देखा तभी तो उनके वचन हैं कि **'द्योतयन्तौ दिशः सर्वाः प्रभया भास्कराविव।'** (अ० रा० ४। १। १२) **'प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ'**········' (वाल्मी० ४। ३। ११) अपने शरीरकी कान्तिसे आपने समस्त दिशाओंको सूर्यके समान प्रकाशमान कर रखा है। यह सारा पर्वत आपकी प्रभासे जगमगा गया है। अतः अपनेसे अधिक तेजस्वी देखकर प्रणाम करना स्वाभाविक है। देखिये महाराज परीक्षित्‌की सभामें वसिष्ठादि ऋषि भी शुकदेवजीको आते देख उठकर खड़े हो गये थे। रावणकी सभामें अङ्गदके पहुँचनेपर सभी सभासद् आसनोंसे उठकर खड़े हो गये थे। तब तेजराशि, तेजनिधान श्रीराम-लक्ष्मणजीको देखकर बटुका मस्तक झुकनेमें क्या आश्चर्य है!

वाल्मीकीय आदिसे भी यही स्पष्ट है कि हनुमान्‌जी इनको देवता ही समझे, यथा—**'देवलोकादिहागतौ'** (४।३।१२), अर्थात् क्या आप देवलोकसे आये हैं। ऐसा प्रभाव पड़नेपर कैसे प्रणाम न करते? बाबा हरिहरप्रसादका भी यही मत है कि जितने विकल्प हनुमान्‌जीके चित्तमें हुए वे सब प्रणामयोग्य स्वरूपके हैं, अतः प्रणाम किया। (मा० सं०)

३ प० प० प्र०—भगवद्भक्तोंकी इन्द्रियोंका यह सहज स्वभाव हो जाता है कि *'सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी।'* उनके मनको ऐसी प्रेरणा प्रकृतिसे ही मिलती है। उनको ऐसे समयपर तर्क या विचार नहीं करना पड़ता। श्रीज्ञानेश्वरजी महाराज **'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा'**···।' (गीता १४। ११) इस श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं कि जब रजोगुण और तमोगुणको जीतनेपर सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है तब शरीरमें ये लक्षण प्रकट होते हैं—प्रज्ञा हृदयमें नहीं समाती, इन्द्रियद्वारोंसे बहने लगती है, समस्त इन्द्रियोंमें विवेक छा जाता है, मानो हाथों और पैरोंमें भी दृष्टि आ जाती है, इत्यादि। श्रीहनुमान्‌जीको यह प्रेरणा प्रकृतिसे मिली, उनका मस्तक स्वभावतः झुक गया। (ख) श्रीहनुमान्‌जी अभी निश्चयपूर्वक यह नहीं जानते कि ये क्षत्रिय हैं या नहीं, यह उनके *'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'* इस प्रश्नसे स्पष्ट है। कारण कि वेष तो है मुनियोंका और धनुर्बाणादि तथा गतिवीर्यादि क्षत्रियके लक्षण हैं। ब्राह्मण हुए और प्रणाम न किया तो 'पूज्याति-क्रम दोष' रूपी पाप लगेगा। क्षत्रिय होनेपर प्रणाम करनेसे पाप तो लगेगा नहीं। अतः मस्तक नवानेमें कोई शंकाकी बात नहीं है।

४ मा० म०—(क) श्रीरामजी वानप्रस्थ हैं और ये ब्रह्मचारी। अपनेसे उनको श्रेष्ठ जानकर प्रणाम किया। पुनः (ख) वे लख गये कि ये त्रिदेवसे परे हैं।

५ वेदान्तभूषणजी—स्मृतियोंमें वेदके विद्यार्थीकी संज्ञा 'विप्र' शब्दसे बतायी गयी है। **'वेदपाठी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।'** ब्रह्म अर्थात् वेदके विज्ञाताकी संज्ञा ब्राह्मण है। 'विप्र' शब्दकी तरह 'बटु' शब्दका

अर्थ भी विद्यार्थी ही है। अतः वटु और विप्र पर्यायवाची शब्द हैं। **'महावीरचरितम्'** में जब जनकजीने परशुरामजीको परुषवादी **'द्विज'** कहकर पुनः कटु रटनेवाला वटु कहा, यथा—**'कस्य द्विजे परुषवादिनि चित्तादेः। कर्णो रटन्कटु कथं न वटुर्विसह्यः॥'** (३। ३१), तब परशुरामजीने क्रुद्ध होकर कहा कि क्या मैं अभीतक विद्यार्थी हूँ जो वटु कहकर तुमने मेरा अपमान किया—**'मामेवं वटुरित्याक्षिपसि।'** इससे यह निश्चय हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थीजीवन) आश्रमदृष्टिसे न्यून कोटिका है।

अस्तु! सुग्रीवने वटुरूप धरकर जानेको कहा तब ***'बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।'*** इसीसे श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंने विप्रवेष देखकर भी स्वयं आश्रममें श्रेष्ठ होनेसे वटु—छात्रको प्रणाम न किया। और स्वयं क्षत्रिय होनेसे विप्र विद्यार्थीके प्रणाम करनेपर आशीर्वाद भी न दिया। अतः विप्र वेषधारी हनुमान्‌जीका प्रणाम करना सर्वथा उचित ही हुआ, इसमें अनौचित्यका आभासतक नहीं है।

पुनः धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि किसी अपरिचितका अनावश्यक परिचय आदि न पूछना चाहिये। यदि परिचय प्राप्त करना आवश्यक हो तो उसे नमस्कार करके परिचय प्राप्त करे। परंतु गोत्रोच्चारणपूर्वक नमस्कारका बन्धन नहीं है। हनुमान्‌जी अभी श्रीरामजीसे अपरिचित हैं। इसलिये वे नमस्कार करके परिचय पूछते हैं।

६ दीनजी—ब्रह्मचारी अवध्य और अबाध्य है, अतः यह रूप धारण किया। यह हर एकको प्रणाम कर सकता है, अतएव यह शङ्का निर्मूल है।

७ वैं०—ये नित्य पार्षद हैं, इसीसे देखतेही ऐश्वर्य इनके हृदयमें प्रविष्ट हो गया।

(नोट—और भी अनेक भाव और अर्थ लोगोंने लगाये हैं जो अधिक संगत नहीं जान पड़ते। उनमेंसे कुछ यहाँ नीचे दिये जाते हैं और कुछ पाद-टिप्पणीमें।)

८ पं० श्रीधर मिश्र—हनुमान्‌जीका भीतर शरीर तो वानरका है और ऊपरसे रूप ब्राह्मणका धारण किये हैं जैसे बहुरूपिया करता है। अतः हनुमान्‌जीने विचारा कि सम्मुख मुँह करके बात करते ही प्रभु हमको पहिचान लेंगे कि यह वानर है, इससे भयसे सिर झुकाकर पूछा। [पर जो रूप हनुमान्‌जीने धारण किया वह ऐसा नहीं है कि उसको देखकर कोई यह जान लेता कि ये वानर हैं। हनुमान्‌जीको यह सिद्धि प्राप्त थी कि जो रूप चाहते वे धारण कर सकते थे; यह बात स्वयं उन्होंने श्रीरामजीसे (वाल्मी० ४। ३। २३ में) कही है—**'कामगं कामचारिणम्'**]

९ करु०—ब्रह्मर्षिके बालक जाना, वा, देखते ही परमेश्वरबुद्धि आ गयी अथवा यों अन्वय कर लें कि—***'बिप्ररूप धरि (सुग्रीव कहँ) माथ नाइ कपि तहँ गयऊ*** और ***अस पूछत भयऊ'*** अर्थात् सुग्रीवको प्रणाम करके कपि वहाँ गये और इस प्रकार पूछने लगे—[पर इस अर्थका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। प्रायः सभी रामायणोंमें हनुमान्‌जीका दोनों भाइयोंको प्रणाम करना पाया जाता है।] [नोट—पं० श्रीधर मिश्र कहते हैं कि ब्रह्मर्षिके बालक जानते तो यह कैसे कहा कि ***'छत्री रूप फिरहु बन बीरा।'*** और परमेश्वरीबुद्धि होनेमें यह शङ्का होती है कि तब यह कैसे पूछा कि ***'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।'*** परमेश्वर जानकर तो चरणोंपर गिरना था, यथा—***'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।'*** पर हमारी समझमें परमेश्वरीबुद्धिसे यह तात्पर्य है कि देवबुद्धि हुई, अर्थात् ये देवता हैं मनुष्य नहीं। पर अभी निर्णय नहीं होता है कि कौन देवता हैं। देवता समझकर प्रणाम किया और आगे अपना प्रभु जानेंगे तब चरणोंपर पड़ेंगे।]*

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥७॥

* १— स्वामीसे कपट किया, यह समझकर लज्जावश सिर नीचे कर लिया। (पं०, मा० म०) वा, २—अपनेसे श्रेष्ठसे वार्ता करनेमें सिर नीचे करके बोलना शिष्टता है।—(पं०) वा०, ३—अपनेको वानर जानते हैं, कपट वेष ब्रह्मचारीका बनाया है और ये मनुष्य हैं और क्षत्रिय, अतः प्रणाम किया।—(पा०) वा, ४—शास्त्रमर्यादा है कि कोई वनान्तर वा तीर्थादिमें अपूर्व रूप देख पड़े तो उसमें देवबुद्धि करके उसको प्रणाम कर ले।—(पां०) उनके तेजसे इनका सिर नीचा हो गया।—(पं०)

कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥ ८॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता॥ ९॥

अर्थ—साँवले और गोरे शरीरके आप कौन हैं? जो वीर हैं और छत्रियरूप धारण किये हुए वनमें फिर रहे हैं॥ ७॥ हे स्वामी! यह कठिन भूमि है और आप कोमल पदगामी हैं, आप किस कारणसे वनमें विचर रहे हैं? ॥ ८॥ आपके कोमल मन हरण करनेवाले सुन्दर शरीर हैं और आप वनमें कठिन घाम और हवा सह रहे हैं—यह किस कारणसे? ॥ ९॥

नोट—१ (क) *'को तुम्ह स्यामल गौर'* इति। हनुमान्‌जी जान गये कि श्रीरामचन्द्रजी बड़े हैं और लक्ष्मणजी छोटे। क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी आगे-आगे चल रहे हैं और लक्ष्मणजी पीछे-पीछे। पुनः इससे कि श्रीरामजीमें अधिक तेज झलक रहा है, यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा।'* (१। १९८। ६) अतएव क्रमसे पूछ रहे हैं—पहले श्याम शरीर रामजीको पूछा तब गौरवर्ण लक्ष्मणजीको। (ख) *'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'* इति। धनुषबाण, तरकश और खड्ग धारण किये हैं, अतः क्षत्रियरूप कहा और यह वीरका बाना भी है, यथा—*'देखि कुठार बान धनु धारी। भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥'* (१। २८२। १) ये रूपसे भी वीर जान पड़ते हैं और घोर वनमें दोनों निःशंक अकेले फिर रहे हैं, अतः 'वीर' कहा। वाल्मीकीयमें जो हनुमान्‌जीने कहा है कि '**सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ। शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ॥**' (४। ३। ९) '**उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम्॥ ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम्।**......' '**संपूर्णाश्च, शितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः॥ जीवितान्तकरैर्घोरैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।**' (१५—१८) 'सिंहके समान देखनेवाले महाबली और पराक्रमी आप दोनों इन्द्रके धनुषके समान धनुष धारण करके इस देशमें क्यों आये हैं? मैं तो आप दोनोंको समस्त पृथ्वीकी रक्षा करनेयोग्य समझता हूँ। सागर, वन और विन्ध्य, मेरु आदि पर्वतोंसे युक्त समस्त पृथ्वीकी रक्षा आपलोग कर सकते हैं। आपके तरकश प्राण लेनेवाले सर्पके समान भयानक, प्रकाशमान तीखे बाणोंसे भरे हुए हैं'—इससे ज्ञात होता है कि दोनों भाइयोंके अस्त्र-शस्त्रसे भी वे जान गये कि ऐसे आयुध धारण करनेवाला कैसा वीर हो सकता है। यह सब वीरका भाव है। पुनः, स्मरण रहे कि जिस वेष-भूषामें श्रीराम-लक्ष्मणजी इस समय थे उस वेषमें अनेक मुनि रहा करते थे। यथा—*'कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे॥'* (परशुरामजी), '**मुखाग्रे यस्य वै वेदाः कराग्रे वै धनुश्शराः। उभयोर्द्रोणसामर्थ्यं शापादपि शरादपि॥**' (श्रीद्रोणाचार्यजी), इत्यादि। (ग) *'क्षत्रीरूप'* का भाव कि वस्तुतः आप क्षत्रिय नहीं हैं, वरन् कोई देवता हैं जैसा आगे स्वयं कहेंगे। अध्यात्ममें भी ऐसा ही कहा है—'**भूभारहरणार्थाय भक्तानां पालनाय च।**' (१४) '**अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियाकृती**.......।' (स० १) अर्थात् भूभार उतारने और भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये आपने यहाँ अवतार लिया और क्षत्रियरूपसे पृथ्वीपर विचर रहे हैं। (मा० त० भा०)

टिप्पणी—१ (क) *'कठिन भूमि'* का भाव कि आप कठोर पृथ्वीपर चलनेयोग्य नहीं हैं, यथा—*'जौं जगदीस इन्हहि बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥'* (२। १२१। ४) (ख) *'कोमल पद गामी'* का भाव कि आप कोमल पदसे पैदल चलनेयोग्य नहीं हैं, सवारीपर चलनेके योग्य हैं, यथा—*'ये बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना॥'* (२। ११९। ६) (मयंककार लिखते हैं कि *'कठिन भूमि कोमल पद गामी......'* में यह ध्वनि है कि काँटे, कंकर-पत्थरसे आच्छादित मार्गके चलनेयोग्य आपके चरण नहीं हैं; फिर भी ऐसी कठिन भूमिपर चलनेपर भी आपके चरण कोमल ही बने हैं। आपके चरण जहाँ पड़ते हैं वहाँकी भूमि भी कोमल हो जाती है। इस बातसे आपका ऐश्वर्य झलक रहा है। अतएव बताइये कि वास्तवमें आप कौन हैं ? मिलान कीजिये—*'पथिक पयादे जात पंकज से पाय हैं। मारग कठिन कुस-कंटक निकाय हैं। सखी भूखे प्यासे पै चलत चित चाय हैं।'* (गी० २। २८) (ख) *'भइ मृदु महि मुद मंगल मूला'*, *'परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे।'* (२। १२१) (ग) *'बिचरहु बन'* का भाव कि आप दिव्य स्थानमें रहनेके योग्य हैं, यथा—*'तरु बर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवलधाम*

रचि-रचि श्रमु कीन्हा॥' (२।११९।८) (घ) *'स्वामी'* का भाव कि आप कोई चक्रवर्ती राजा हैं। यथा—*'राजलखन सब अंग तुम्हारे।'* (२। ११२। ४) (अथवा, मा० म० के उपर्युक्त उद्धरणसे भाव यह निकला कि कठिन भूमि भी इनके कोमल चरणोंके लिये मृदुल हो गयी है, यह देखकर हनुमान्‌जीको संदेह हो गया कि ये अवश्य कोई देवता हैं, यह मनमें आनेसे 'स्वामी' सम्बोधन मुखसे निकल पड़ा। यही मत प० प० प्र० का भी है।)

नोट—२*'स्वामी'* संबोधन कैसे किया इसका समाधान *'माथ नाइ'* के समाधानमें ही हो गया। पंजाबीजीने दूसरी प्रकार भी अर्थ किया है—'हे वनस्वामी ! अर्थात् ऐसे कठिन वनमें फिरनेसे संदेह होता है कि आप कोई वनदेवता तो नहीं हैं।' पुन:, वे और भाव ये लिखते हैं—(क) सेवककी योग्यता दिखानेके लिये सरस्वतीने *'स्वामी'* पद भी मुखसे कहला दिया। वा, (ख) ये भक्तशिरोमणि हैं, भक्तोंकी वाणी जो प्रभुके विषयमें होती है वह अन्यथा नहीं होती। इसीसे संदिग्ध होनेपर भी रघुवीरजीको स्वामी ही कहा। इत्यादि। (इसीको प० प० प्र० स्वामी इस प्रकार लिखते हैं कि 'भक्तहृदयमें भगवान्‌की प्रेरणा ही ऐसी होती है कि असत्य वचन उनके मुखसे स्वाभाविक ही नहीं निकलते हैं। इस सम्बोधनसे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जी मानो अपना विप्रत्व भूल गये। दास्य भाव जाग्रत् हो गया और ग्रीष्मकी कड़ी धूपमें ऐसे कोमल पुरुषोंको पदगामी देख उनका हृदय द्रवित हो गया। इस भावकी पुष्टि अगले वचनोंसे होती है।')

नोट—३ यहाँ बारम्बार *'बन'* शब्द आया है, यथा—*'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'*, *'कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी'* और *'सहत दुसह बन आतप बाता।'* प्रत्येक अर्धालीमें एक-एक बार आया है। इससे जनाया कि इनको वनमें विचरते देखकर हनुमान्‌जीको दु:ख हुआ, इसीसे आगे उन्होंने दोनोंको पीठपर चढ़ा लिया, यथा—*'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।'* (प्र०) इसी प्रकार भरतजी दु:खी हुए थे। यथा—*'राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥'* (२। २११-२१२)

'कठिन भूमि कोमलपद गामी' और *'मृदुल मनोहर'''''''बाता'* में विषमालंकार है।

नोट—४ (क) *'मृदुल मनोहर सुन्दर गाता'''''''* इति।*'मृदुल'* का भाव कि यह गात रसिकोंके अंकमें विनोद करने एवं कुंकुम, कस्तूरी आदिके लेपनेयोग्य है। मनोहर और सुन्दरका भाव कि ये इस योग्य हैं कि रसिकोंके मनको हरण करें और वे इसके सौन्दर्यका दर्शन करते ही रहें।—यह भाव *'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई'* से पुष्ट होता है। (मा० त० प्र०) पुन:, *'मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह······'* का भाव यह भी है कि दु:सह आतपबातको सहनेपर भी ये गात *'मृदुल मनोहर सुंदर'* बने हैं, इनकी कान्ति बढ़ती ही जाती है, जिससे भी ऐश्वर्य झलकता है कि आपके तनमें आतप और बात प्रवेश नहीं करते जैसे कवचमें शस्त्रघात नहीं लगता। नहीं तो *'झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे॥'* यह दशा होनी चाहिये थी; अत: ज्ञात होता है कि आप मनुष्य नहीं हैं, प्रकृतिगुणपरिणामातीत कोई बड़े देव हैं। (मा० म०, प्र०) (ख) मनोहर और सुन्दर यद्यपि पर्याय हैं तो भी यहाँ व्युत्पत्तिदृष्ट्या **'मनोहर'**=मनको चुरानेवाला। और सुन्दर=सु-द्रियते। दृङ् आदरे।=जिससे उत्तम आदर पैदा होता है। वा, **'सु उनति चित्तं द्रवीकरोति'** (**उन्दी क्लेदने**) जिससे चित्त द्रवित होता है वह सुन्दर है। (प० प० प्र०) (ग) पूर्व केवल पदको कोमल कहा और यहाँ *'गात'* से जनाया कि समस्त अंग कोमल है।

प्र०—पूर्ण अ० ६२ (४) में श्रीजानकीजीको समझानेके समय रघुनाथजीने कहा है कि *'कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी॥'* और श्रीभरतजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—*'बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात।'* (अ० २११) दोनों स्थलोंपर घाम, वर्षा, हिम और पवन चारोंको कहा; पर यहाँ केवल 'आतप और वात' दो ही कहे—*'सहत दुसह बन आतप बाता॥'* कारण कि यह ग्रीष्मका समय है जब हनुमान्‌जी उनसे मिले। इस समय घोर घाम और लू दो ही हैं। वर्षा आगे होगी, यथा—*'गत ग्रीषम बरषा रितु आई।'* और वे अभी जानते नहीं कि ये १३ वर्षसे वनमें विचरण कर रहे हैं, अत: वर्षा और हिम कैसे कहते ?

की तुम्ह तीनि* देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥ १०॥
दो०—जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥ १॥

अर्थ—क्या आप तीन देवताओं अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवमेंसे कोई हैं या कि आप दोनों नर-नारायण हैं?॥ १०॥ अथवा आप जगत्‌के कारण (उत्पन्न करनेवाले), भवसागरसे (आवागमनसे) पार कर देनेवाले, समस्त लोकों (१४ भुवनों) के स्वामी हैं और पृथ्वीका भार भंजन (तोड़ने, नाश) करनेके लिये मनुष्य अवतार लिया है॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'की तुम्ह तीनि देव महँ·····'* इति। दोनोंको विशेष तेजस्वी देखकर पहले संदेह हुआ कि कोई विशेष देवता न हों, अत: तीन जो विशेष देवता हैं उन्हींमेंसे पूछते हैं कि आप कोई हैं। (ख) *'कोऊ'* का भाव कि ये दो हैं, दोमें तीनका पूछना अयोग्य है, अत: पूछा कि आप इन तीन देवताओंमेंसे कौन दो हैं—'ब्रह्मा' विष्णु हैं, या हरिहर हैं। विष्णु भगवान् श्यामवर्ण हैं, ब्रह्मा पीत और महेश गौरवर्ण हैं। अतएव पूछते हैं कि इन दो जोड़ियोंमेंसे आप कोई हैं। ऐसा पूछनेसे श्यामगौरवर्णकी भी जोड़ी बनी रही, ब्रह्मा और महेश दोनों पीत तथा गौर वर्ण हैं, इससे इनकी जोड़ीसे तात्पर्य नहीं है। (बरवै रा० में भी मगवासियोंने त्रिदेवमेंसे केवल हरिहर इन्हीं दोका लक्ष्य किया है, यथा—*'कोउ कह नर नारायन हरि हर कोउ।'* (२। २२) पर यहाँ *'तीन देव महँ कोऊ'* कहनेसे एकसे अधिक जोड़ियाँ बनेंगी।) (ग) [ये दो हैं और त्रिदेव तीन। अत: फिर सोचा कि नर-नारायण दो हैं और उनकी भी गौर-श्याम जोड़ी है एवं वे दोनों सदा साथ ही रहते हैं, अलग नहीं होते। ऐसी परस्पर उनमें प्रीति है, यथा—*'नर नारायन सरिस सुभ्राता।'* और वे भी अवतार लिया करते हैं तो ये कहीं वे ही न हों। अतएव त्रिदेवमेंसे पूछकर तब पूछा कि आप नर-नारायण तो नहीं हैं ? जब इतनेपर भी उत्तर न मिला तब सोचे कि अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक ही न हों; अत: तीसरा प्रश्न इसका किया । यहाँ हनुमान्‌जी ठीक किसीमें निश्चय न कर सके, यह संदेहालंकार है।]

प्र०—*'जग कारन'* और *'तारन भव'* दो विशेषण देकर जनाया कि जगत् में जन्म होना और जगत्‌से छूटना (मुक्त होना) दोनों आपके ही अधीन हैं, यथा—*'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा॥'* (४। ३। २) *'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।'* (वि० १०२), *'बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सींव।'* (आ० १५), **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'** (तैत्ति० भृगु० १), *'भंजन धरनी भार'* और *'लीन्ह मनुज अवतार'* में यह भाव है कि हम सब जिसकी (ब्रह्माद्वारा) आज्ञासे आकर वानर, भालु बने, यथा—*'अंसन सहित मनुज अवतारा। लैहौं दिनकर बंस उदारा॥'* *'हरिहौं सकल भूमि गरुआई।'* (१। १८७) और *'बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ'* (१। १८७) आप वही तो नहीं हैं?

टिप्पणी—२ (क)*'अखिल भुवन पति'* कहनेका भाव कि सभी भुवन रावणद्वारा पीड़ित हैं। *'मनुज अवतार'* लेनेका भाव कि रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथ है। यथा—*'रावन मरन मनुज कर जाँचा।'* (१।४९।१) (ख) हनुमान्‌जीने प्रथम दो-दो मूर्तिमें प्रश्न किया—आप ब्रह्माविष्णु हैं या शिवविष्णु हैं या कि नर-नारायण हैं—अब यहाँ एक ही मूर्तिमें दो मूर्तियोंका प्रश्न करते हैं कि आप अखिल भुवनोंके पति तो नहीं हैं जो दो स्वरूप धारण किये है। ऐसा ही प्रश्न श्रीजनकमहाराजजीका है, यथा—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'* (१। २१६। २) (ग) प्रथम तीन देवमें प्रश्न किया तब नर-नारायण दोमें और अन्तमें अखिलभुवनपति एकमें प्रश्न किया; इसका तात्पर्य यह

* तीनि—(भा० दा०), तीन—(का०)

है कि प्रथम स्थूल अनुमान करके पीछे सूक्ष्म अनुमान किया। भगवान्‌के रूपके समझने और अनुमान करनेकी यही रीति है। प्रमाण यथा—'**श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः। स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति॥**' (भागवत ५। २६। ३९) अर्थात् यती (भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाला) भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म रूपको सुनकर स्थूल स्वरूपमें चित्तको स्थापन करके धीरे-धीरे सूक्ष्मरूपमें बुद्धिके द्वारा चित्तको ले जाय। श्रीहनुमान्‌जीकी यहाँतक यथार्थ पहुँच कि *'की तुम अखिल भुवन पति'*' उनके भक्तशिरोमणि और श्रीजनक-समान योगीश्वर होनेका परिचय दे रहा है। योगियोंके हृदयमें सत्यका ही अनुभव हुआ करता है, यह बालकाण्डमें लिखा जा चुका है और उत्तम भक्तोंके भी अनुमान और अनुभव ऐसे ही होते हैं, यथा—*'की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥'* (५। ६। ७) विभीषण वाक्य।

☞ यहाँ हनुमान्‌जीका मन स्वाभाविक स्वामीकी सूचना दे रहा है।

गौड़जी—जनकजी भी तीनों प्रश्न करते हैं (१)मुनिकुलतिलक=नरनारायण, (२) नृपकुल पालक=विष्णु, जो नृपकुलमें हुए हैं, यह गूढ़ोक्ति है, (३) *ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा,* इत्यादि=अखिल भुवनपति।

मयूख—हनुमान्‌जी ने चार प्रश्न इन पदोंमें किये*। वे एक ही प्रश्न करके चुप हो जाते, परंतु ऐसा न करके वे क्रमशः एकसे परे दूसरा प्रश्न करते ही गये। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों श्रीरामचन्द्रजीकी मधुरताको जो उनके शरीरसे स्रव रही थी, पान करते गये त्यों-त्यों कुछ और दर्शित होता गया—अर्थात् ईश्वरता झलकती गयी और तर्क होता गया। दूसरे, हनुमान्‌जीके प्रश्नका उत्तर प्रभु नहीं देते, इससे वे पूछते-पूछते अन्तिम प्रश्नतक पहुँच गये। जबतक इन्होंने अन्तिम प्रश्न न कर लिया इनको संतोष न हुआ। प्रथम तीन प्रश्नोंका उत्तर श्रीरामजीने इससे न दिया कि उनसे श्रेष्ठ हैं और परतम अवतारको गोपनीय समझकर उसका स्पष्ट उत्तर न देकर नररूपका ही परिचय दिया।

मा० त० प्र०—*'जग कारन'* से त्रिपाद-विभूति वैकुण्ठवासी वासुदेवसे तात्पर्य है। और *'अखिल भुवनपति'* से त्रिपादविभूतिसे परे साकेतपति जनाया। *'तारन भव भंजन धरनीभार'* देहलीदीपक है।

नोट—१ यहाँ *'अखिलभुवनपति'* और *'मनुज अवतार'* भी बड़े गूढ़ पद हैं। शिवजीने विष्णु-रामावतार और नारायण-रामावतार कहकर तब कहा था कि अब *'कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी। जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुरभूपा।'* यहाँ हनुमान्‌जीके शब्दोंमें वही अवतार अभिप्रेत है। उस अवतारमें मनुजीको द्विभुज परात्पर परब्रह्म साकेतविहारीका दर्शन हुआ था, वे ही मनुजीके पुत्र हुए। *'मनुज'* शब्दका साधारण अर्थ तो मनुष्य ही है पर यहाँ संकेतसे *'मनुसे जायमान'* मनुके पुत्र वा मनुजीके वरदानवाले रामावतारको भी जना दिया है, जिनके विषयमें मनुजीने कहा था कि *'बिधि-हरि-हर-बंदित पद रेनू', 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा'* इत्यादि।

नोट—२ मिलान कीजिये—'**युवां त्रैलोक्यकर्ताराविति भाति मनो मम। युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतु जगन्मयौ॥ मायया मानुषाकारौ चरन्ताविव लीलया। भूभारहरणार्थाय भक्तानां पालनाय च॥ अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियाकृती। जगत्स्थितिलयौ सर्गलीलया कर्तुमुद्यतौ॥ 'स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ। नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः॥**' (अ० रा० ४। १। १३—१६) अर्थात् मेरा मन तो यह कहता है कि आप दोनों त्रिलोकीके रचनेवाले, संसारके कारणभूत, जगन्मय प्रधान और पुरुष ही हैं। आप मानो पृथ्वीका भार उतारने और भक्तजनोंकी रक्षा करनेके लिये ही लीलावश अपनी मायासे मनुष्यरूप धारणकर विचर रहे हैं। आप साक्षात् परमात्मा ही क्षत्रिय रूपमें अवतीर्ण होकर पृथ्वीपर घूम रहे हैं। आप लीलासे ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश करनेमें तत्पर हैं। मेरी बुद्धिमें तो यही आता है कि आप सबके हृदयमें विराजमान, सबके प्रेरक, परम स्वतन्त्र भगवान् नरनारायण ही इस लोकमें विचर रहे हैं।

---

* पं० शिवलाल पाठकजी दोहेमें दो प्रश्न मानते हैं। १—जगकारन भवतारण और पृथ्वीका भार हरनेवाले हो ? २—अखिल भुवनपति हो और मनुष्य अवतार लिया है।

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू	१ *जगकारन*
भूभारहरणार्थाय	२ *भंजन धरनी भार।*
भक्तानां पालनाय च	३ *तारन भव*
मायया मानुषाकारौ अवतीर्णाविह परौ	४ *अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार॥*
भक्तानां पालनाय च चरन्तौ क्षत्रियाकृती	५ *छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥*
नरनारायणौ लोके चरन्तौ	६ *नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥*

उपर्युक्त मिलानसे पाठक देखेंगे कि मानसका उत्तरोत्तर क्रम कितना सुन्दर है॥

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥ १॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥ २॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥ ३॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥ ४॥

अर्थ—हम कोसलके राजा दशरथ महाराजके पुत्र हैं और पिताका वचन मानकर वनमें आये हैं॥ १॥ हमारे राम-लक्ष्मण नाम हैं हम दोनों भाई हैं। साथमें सुन्दर सुकुमारी स्त्री थी॥ २॥ यहाँ (वनमें) निशाचरने वैदेहीको हर लिया। हे विप्र ! हम उसे ही ढूँढ़ते-फिरते हैं॥ ३॥ हमने तो अपना चरित्र विस्तारसे कह सुनाया। हे विप्र! अब अपनी कथा समझाकर कहो॥ ४॥

नोट—१ अ० रा० में इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक ये हैं—'**अहं दाशरथी रामस्त्वयं मे लक्ष्मणोऽनुजः। सीतया भार्यया सार्धं पितुर्वचनगौरवात्। आगतस्तत्र विपिने स्थितोऽहं दण्डके द्विज। तत्र भार्या हृता सीता रक्षसा केनचिन्मम। तामन्वेष्टुमिहायातौ त्वं को वा कस्य वा वद॥**' (४। १। १९-२०) अर्थात् मैं श्रीदशरथजीका पुत्र राम हूँ और यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है। पिताकी आज्ञा मानकर मैं अपनी स्त्री सीताके सहित (वनमें) आया था और दण्डकवनमें हम लोग रहते थे। वहाँ किसी निशाचरने मेरी स्त्री सीताको हर लिया। उसे ढूँढ़नेके लिये हम यहाँ आये हैं। कहिये आप कौन हैं और किसके पुत्र हैं ?

☞ मानसमें '*कोसलेस*' शब्दसे जाति और जन्मभूमि भी कही है। अ०रा० में यह नहीं है।

मा० त० भा०, पां०—१ '***कोसलेस***' से धाम वा नगर और क्षत्रिय जाति, '*दशरथ के जाए*' से पिताका नाम एवं जाति और ऐश्वर्य, '***पितु बचन मानि बन आए***' से वनमें आनेका हेतु, '***नाम राम लछिमन***' से नाम '***दोउ भाई***' से दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध और '***संग नारि···खोजत तेही***' से यहाँ पंपासर आदिमें विचरणका कारण कहा।

श्रीहनुमान्‌जीके प्रश्न	श्रीरामजीका उत्तर
'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा'	१ ***'कोसलेस दसरथ के जाए,' 'नाम राम लछिमन दोउ भाई'***
'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'	२ ***हम पितु बचन मानि बन आये।***
'कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी।···सहत दुसह बन आतपबाता'	३ ***'संग नारि सुकुमारि सुहाई। इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।'***

पं० राजकुमारजी '***कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन···***' का उत्तर '***हम पितु बचन मानि बन आए***' और '***मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत···***' का उत्तर '***संग नारि***' इत्यादि लिखते हैं।

प्रथम तीन प्रश्नों के उत्तर दिये पर शेष तीनका उत्तर न दिया। '***की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ***', '***नरनारायन की तुम्ह दोऊ***' और '***की तुम्ह अखिल भुवनपति······***' इन तीनोंके उत्तर न देनेका कारण यह है कि नरतनमें अपनेको छिपाये हुए हैं, यथा—'***गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।***' (बा० ४८) इत्यादि (भगवान् शंकरके विचार।) (पां०) पुनः उत्तर न देनेसे '**मौनं सम्मतिलक्षणम्**' न्यायसे और हनुमान्‌जीके प्रश्नोंके अस्वीकार न करनेसे '***अखिल भुवनपति***' भगवान् होना भी ध्वनित है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ *'सुकुमारि सुहाई'* का भाव कि वह वनमें आनेके योग्य न थी, अत्यन्त सुकुमारी थी पर हमारे प्रेमसे वनमें साथ आयी। *'सुहाई'* का भाव कि उनपर मेरा इतना ममत्व है कि बिना उनके कहीं सुख नहीं देख पड़ता। यथा—*'पुर तें निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दए मग में डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनीं जलकी पुट सूखि गए मधुराधर वै। फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥'* (क० २। ११) (मा० म०)

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जीने दोनों भाइयोंको *'मृदुल मनोहर सुंदर'* कहा और श्रीरामजीने श्रीसीताजीको *'सुकुमारि सुहाई'* कहा। इसमें ध्वनि यह है कि वह तो हम दोनोंसे भी अधिक सुन्दर और अधिक कोमल होनेपर भी मेरे साथ वनमें रही। भाव कि वह महान् पतिव्रता है।

नोट—२ नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों भक्तोंके इष्ट हैं, क्योंकि ये चारों सच्चिदानन्द नित्यरूप हैं। यथा—**'रामस्य नामरूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥'**; अतः इतनेमें अपने नामरूपादि चारों कहे। *'कोसलेस'* से धाम; *'दसरथ के जाए'* से रूप, *'नाम राम लछिमन'* से नाम और *'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।'''''* से लीला सूचित की—(प्र०)

* 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही......' *

यहाँ लोग शंका करते हैं कि सीताहरण तो पञ्चवटीमें हुआ तब *'इहाँ हरी'* कैसे कहा? श्रीरामजीने प्रथम कहा कि हम पिताकी आज्ञासे वनमें आये, हमारे साथ यह भाई और हमारी स्त्री भी आये। उसीके सिलसिलेमें कहते हैं कि *'इहाँ'* अर्थात् वनमें ही हरी। वस्तुतः यह कोई शंकाकी बात नहीं है।

मा० म० कार और पं० रामकुमारजी इसका समाधान यों करते हैं कि जहाँ सीताहरण हुआ वहाँसे यहाँतक वन सब एक ही है अर्थात् मिला हुआ है, अतः *'इहाँ'* कहा।

बाबा हरिहरप्रसादजी शंकाके निवारणार्थ दूसरा अर्थ यह करते हैं कि वैदेहीको निशाचरने हर लिया, हम उसे यहाँ ढूँढ़ते-फिरते हैं। यह अन्वय अ० रा० के **'तत्र भार्या हृता सीता''''''तामन्वेष्टुमिहायतौ'** (उपर्युक्त) के अनुसार है।

श्री० प्र० स्वामीजी कहते है कि *'इहाँ'* शब्द देकर कवि श्रीरामजीके मनकी दशा दिखा रहे हैं कि यद्यपि सीताहरणको नौ-दस मास हो गये तथापि श्रीसीतावियोग दुःख आज भी उनके हृदयमें वैसा ही है जैसा प्रथम दिन था, मानो सीताहरण आज ही हुआ है। उनको ऐसा ही लग रहा है। मुख्य भाव यही है, नहीं तो *'उहाँ हरी'* लिख सकते थे।

कोई महानुभाव ऐसा कहते है कि—यहाँ हरी (वानर सुग्रीव) को, निशिचर रावणको और वैदेहीको खोजते हैं। तीनोंके खोजनेका कारण है—श्रीशबरीजीने कहा कि *'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥'* अतः सुग्रीवको ढूँढ़ते हैं। और जटायुने कहा था कि *'यह गति मोरि दसानन कीन्हीं। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हीं॥'* अतएव रावणको ढूँढ़ते और *'लेइ दच्छिनदिसि गयउ गोसाईं'* अतः यहाँ वैदेही को भी खोजते हैं। भाव अच्छा है; पर इसमें सीताहरणकी बात ऊपरसे लगानी पड़ेगी; अथवा, *'हरी निसिचर बैदेही'* का दो बार दो प्रकारसे अर्थ करना होगा। एक अड़चन और यह पड़ेगी कि *'तेहि'* एकवचन है और *'हरी' 'निसिचर'* और *'बैदेही'* तीन मिलकर बहुवचन हो जाते हैं। यदि कविका अभिप्राय तीनोंसे होता तो *'तेही'* के बदले *'तिन्हहीं'* या कोई अन्य बहुवचनवाचक पर्यायी शब्द दे देते। अतः मेरी समझमें यह अर्थ शब्दोंके अनुकूल नहीं है।

नोट—३ *'बैदेही'* पर *'हरी निसिचर'* के साथ देनेका भाव यह है कि वह निशिचरके डरसे एवं हमारे वियोगमें देहरहित हो जानेवाली है। पंजाबीजी लिखते हैं कि *'बैदेही'* विशेषण और *'बिप्र'* संबोधनका भाव यह है कि विदेह राजाका ऋषियोंसे अत्यन्त घनिष्ठ स्नेह है, इस सम्बन्धसे उनकी कन्याके खोजनेमें ये भी हमारी सहायता करेंगे।

गौड़जी—माया देहरहित है। उसीकी बनी हुई *'बैदेही'* अर्थात् मायाकी सीताका निशिचरने हरण किया, उसी निशिचरको हम खोजते—फिरते हैं। गूढ़ोक्ति है।

प० प० प्र०—*'बैदेही'* से जनाया कि वह विषयपराङ्मुख पूर्ण वैराग्यशीला है, वह विरहावस्थामें विदेहस्थितिमें ही रहेगी, निशाचरके वश होनेवाली नहीं है। अतः हम उसे खोजते-फिरते हैं।

'बिप्र फिरहिं हम', 'कहहु बिप्र'—यहाँ विप्र-विप्र दो बार कहकर जनाया कि हनुमान्‌जीके *'कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी'* के *'स्वामी'* शब्दसे भगवान्‌के हृदयमें भक्त-वात्सल्य जागृत हो गया है, वे कृपा करना चाहते हैं पर हनुमान्‌जी अभी कपटवेषमें ही हैं, इसीसे बार-बार विप्र सम्बोधन करके उनको सावधान कर रहे हैं कि शीघ्र कपट-वेष त्याग दें।

'आपन चरित कहा हम गाई। बिप्र कहहु निज कथा···'

मा० त० भा०—(क) *'आपन चरित'* अर्थात् जो हमने कहा है वह हमारा चरित है अर्थात् रामायण है, यथा—*'कोसलेस दसरथ के जाए'* यह बालकाण्ड है, *'हम पितु बचन मानि बन आए'* यह अयोध्याकाण्ड है, *'इहाँ हरी निसिचर बैदेही'* यह अरण्य है और *'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही'* यह किष्किन्धा है। वर्तमानतककी कथा कही। (ख)—नरलीलाकी मर्यादा रखनेके लिये हनुमान्‌जीको विप्र कहा और कथा पूछी, नहीं तो प्रभु तो सब जानते ही हैं।

शीला—*'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई'* ये वचन भी गूढ़ हैं। भाव यह है कि जैसे तुमने हमसे कहा कि तुम क्षत्रियरूप हो, नर नहीं हो, इत्यादि, वैसे ही हम तुमसे पूछते हैं कि तुम कौन हो, क्योंकि तुम्हारे वचन सर्वशास्त्रवेदादिके पूर्ण ज्ञाताके-से हैं, संस्कार और उच्चारण शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार हैं। [यथा—'**नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।**······' (वाल्मी० ४। ३। २८-२९) अर्थात् जिसने ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं पायी, जो यजुर्वेदका ज्ञाता एवं सामवेदका विद्वान् नहीं, वह ऐसी बातें नहीं कर सकता, इन्होंने बारम्बार व्याकरण पढ़ा है....] ऐसे वचन तुम्हारे ऐसे ब्रह्मचारी मनुष्य नहीं कह सकते। अतः तुम बताओ कि तुम कौन हो ?

मा० म०, पां०—*'निज कथा'* अर्थात् पिताका नाम, कुल, अपना नाम, गुरुका नाम, विद्याध्ययन और गुरुसेवा छोड़ वनमें फिरनेका कारण और किसके भेजनेसे यहाँ आये, इत्यादि। (नोट—अपने लिये *'चरित'* और हनुमान्‌जीके लिये *'कथा'* पदका प्रयोग किया। इस भेदपर पाठक विचार करें।) गूढ़भाव यहाँ यह है कि हम पर तो विपत्ति पड़ी इससे, वनमें फिरते हैं और तुमपर क्या विपत्ति आ पड़ी जो तुम ऐसे भीषण वनमें आये हो।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥ ५॥

अर्थ—प्रभुको पहचानकर हनुमान्‌जी उनके चरण पकड़कर (पृथ्वीपर) पड़ गये, अर्थात् साष्टाङ्ग दण्डवत् की। (शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—) हे उमा ! वह सुख वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ५॥

'प्रभु पहिचानि'—कैसे पहिचाना ?

मा० त० भा०—१ आकाशवाणी और प्रभुकी वाणीका मिलान करके एक समझकर पहिचान लिया। आकाशवाणी है कि *'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥ तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई।'* (१। १८७) अर्थात् कोसलपुरीमें राजा दशरथके यहाँ अवतार लेंगे। वही यहाँ कहते हैं कि *'कोसलेस दसरथ के जाए।'* २—*'नारद बचन सत्य सब करिहौं',* यह आकाशवाणी है। और, नारदवचन ये हैं—*'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥ कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥ मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी॥'* (१। १३७) ये सब बातें श्रीरामजीमें देखीं—नृपतन धारण किये हैं, नारि-विरहसे दुःखी हैं और सुग्रीवके यहाँ आये हैं; अब वानर सहायता करेंगे। हनुमान्‌जी शिवरूपसे वहाँ थे जहाँ आकाशवाणी हुई थी। पुनः, ३—भगवान्‌ने अपने मुखसे कहकर अपने चरित जनाये हैं—*'आपन चरित कहा हम गाई',* इसीसे उन्होंने प्रभुको पहिचान लिया। पुनः, ४—प्रभुके पहिचाननेका तीसरा प्रकार

यह है कि मायाके वश भूले रहे, इससे नहीं पहचाना। यथा—*'तव माया बस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥'* पर जब प्रभुकी वाणी सुननेसे माया निवृत्त हुई तब पहिचाना। जब प्रभुको नहीं पहिचाना था तब माथा नवाकर प्रश्न किया था और जब पहिचान लिया तब चरणोंपर पड़े।

प० प० प्र०—वस्तुतः जब भगवान् स्वयं कृपा करके किसीको जनाना चाहें तभी वह जान सकता है। यथा—*'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥'* (२। १२७। ४), *'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* (२। १२७। ३) जब भगवान् अपनी इच्छा, वचन वा हास्यसे योगमायाका आवरण हटाते हैं तभी जीव उनको पहचान सकता है, अन्यथा नहीं। इस भावकी पुष्टि श्रीहनुमान्‌जीके ही *'तव माया बस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥'* इन वचनों तथा सुग्रीवके *'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥'* (२१ । २) से होती है। जीवके प्रयत्नोंसे या विचारशक्तिसे मायाका आवरण कभी नहीं हटता। *'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥'* (७। ११७)

पां०, प्र०—ब्रह्मासे सुना था कि शक्तिसमेत वनमें आवेंगे—*'नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥'* (१। १८७। ६) यहाँ शक्तिसमेत न देखा इससे न पहिचाना। जब जानकीहरणवृत्तान्त सुना तब पहिचाना। (वि० त्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते है कि हनुमान्‌जीने प्रभुको तो पहिचान ही लिया था। उनका अन्तिम प्रश्न ही था *'की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार'*; कसर इतनी ही थी कि साथमें आदिशक्ति न थीं। प्रभुके *'इहाँ हरी''तेही'* इस उत्तरसे वह शंका दूर हो गयी।)

वै०—'पहिचान' से पूर्व परिचय पाया जाता है। पद्मरामायणमें बालपनेके समयकी पहिचान पायी जाती है। बालपनमें श्रीरामजीने बन्दर माँगा। बहुत-से बन्दर मँगाये गये पर प्रभुका माँगना बन्द न हुआ, वे किसीसे संतुष्ट न हुए तब वसिष्ठजी बुलाये गये। उन्होंने कहा कि ये अंजनीनन्दनको पाकर संतुष्ट होंगे। सुमन्त्रजी जाकर अंजनासे हनुमान्‌जीको माँग लाये। इनको देखकर प्रभु बहुत प्रसन्न होते थे। जब प्रभु पाँच वर्षके हुए और विद्या पढ़ने लगे तब (और कोई कहते हैं कि जब दोनों भाई विश्वामित्रजीके साथ गये तब) हनुमान्‌जीको लौटा दिया (और तब उनसे प्रभुने यह कह दिया था कि तुम चलो, हम किष्किन्धामें आवेंगे वहाँ फिर मिलेंगे।) अतएव प्रभुके वचनोंसे पहिचान गये।—[भाव अच्छा है; पर इतनी दूरसे खींचने और क्लिष्ट कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरे इसमें यह शङ्का होती है कि हनुमान्‌जीको तो इस पूर्व परिचयसे केवल *'कोसलेस दसरथ के जाए'* से ही तुरत पहिचानकर चरणोंपर गिर पड़ना था। इसी प्रकार श्रीरामाज्ञाप्रश्नका *'राम जनम सुभ काज सब कहत देवरिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ॥'* (सर्ग ४ दोहा २२) यह दोहा भी पूर्व परिचयको सूचित करता है। देवर्षि नारदसे जन्म और चरित सुने हुए थे, चरितका परिचय था, वही चरित प्रभुके मुखसे सुना; अतः जान गये कि ये वही भगवान् राम हैं। यह दोहा भी मानसकविका ही बनाया हुआ है, इससे यह कुछ संगत हो सकता है।]

पं० रा० व० श०—हनुमान्‌जी समस्त वेद, शास्त्र आदि सूर्य भगवान्‌से पढ़े हुए थे, उसीके ज्ञानसे जान गये। अथवा, सूर्यने गुरुदीक्षामें इनसे यह कहा था कि हमारे अंशसे सुग्रीव वानर है, उसपर विपत्ति पड़ेगी, तुम उसकी सहायता करना। वहाँ तुम्हें लाभ होगा। परात्पर-परब्रह्म अवतार लेंगे और उनकी स्त्रीका हरण होगा, वे खोजते हुए वहाँ जायेंगे। अतएव जान लिया। ☞ इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण लोगोंने कहे हैं पर वे बहुत क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।*

* १ श० सु० दा०—हनुमान्‌जीने 'कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु·····' का यह अर्थ समझा कि 'कुशलानां समूहः कौशलं तस्य ईशः कोशलेशः स चासौ दशरथश्च' अर्थात् जो समस्त कल्याणभाजन गरुड़वाहन विष्णुके अवतार और सकल जगत्‌के पिता हैं वे हम वनको आये हैं। 'बचन मानि' अर्थात् यह वचन मान लो। २—विनायकी टीकाकार कहते हैं । कि—'कुशलानां समूहः······' अर्थात् सम्पूर्ण कुशल प्राणियोंमें श्रेष्ठ दश (=पक्षी विशेष) है रथ (वाहन) जिसका ऐसे विष्णुके जाये (अवतार); पितु (=जो सबके आदिकारण हैं)। बन आये (=कपटसे वटुवेषधारी हनुमान् तुम) बचन मानि (हमारे वचनका विश्वास करो)। इस तरह गुप्तरूपसे अन्तिम तीन प्रश्नोंका उत्तर हो जाता है। इत्यादि।

नोट—१ *'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना'* से ज्ञात होता है कि शिवजीने उसका अनुभव किया पर वह अकथनीय है इससे कह न सके।

श्रीहनुमान्‌जी

श्रीहनुमान्‌जीके जन्मकी कथा जाम्बवान्‌ने उनसे वाल्मी० स० ६६ में यों कही है—पुञ्जिकस्थल नामकी एक अप्सरा जो परम सुन्दरी थी, वह शापवश कुञ्जर वानरकी कन्या अञ्जना वानरी हुई जो केसरीकी स्त्री हुई। एक बार वह मनुष्यरूप धारणकर माला, आभरण आदिसे विभूषित पर्वतके शिखरपर बैठी थी। पवनदेवने उसपर मोहित हो मनसे उसका आलिङ्गन किया जिसके प्रभावसे महाबली, महापराक्रमी, महातेजस्वी, सब प्रकार पवनके समान हनुमान्‌जी पवनके औरस और केसरीके क्षेत्रजपुत्र उत्पन्न हुए। बालपनमें ही वे महावनमें सूर्यका उदय देखकर उसे फल समझकर लेनेके लिये उछले। (उस दिन सूर्यग्रहणका पर्व था। राहुने इन्द्रको खबर दी) उन्होंने देखकर वज्र चलाया जिससे बायीं ठोढ़ी (हनु) टेढ़ी हो गयी; इसीसे हनुमान् नाम हुआ। तभीसे कीर्तियुक्त हनुमान् नाम पड़ा। यह सुनकर कि उनका पुत्र मारा गया, पवनने कोप करके अपना बहना रोक दिया जिससे समस्त देवता घबड़ाकर पवनदेवको मनाने लगे। वायुके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मासहित समग्र देवताओंने अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रसे इन्हें अभय कर दिया और सबने वर दिया। ब्रह्मपुराणमें इनकी विस्तृत कथा है। इनका आविर्भाव कोई कार्तिक कृ० १४, कोई मार्गशीर्ष और कोई चैत्र पूर्णिमाको मानते हैं। कथाएँ इनकी सब जानते हैं, इसीसे अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। वाल्मी० उ० ३५-३६ सर्गमें विस्तारसे है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल—इनके सम्बन्धमें इतना समझ रखना आवश्यक है कि ये सेवकके आदर्श हैं। सेव्यसेवकभावका पूर्ण स्फुरण इनमें दिखायी पड़ता है। बिना किसी प्रकारके पूर्व परिचयके रामजीको देखते ही उनके शील, सौन्दर्य और शक्तिके साक्षात्कारमात्रपर मुग्ध होकर पहले-पहल आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तिराशि हनुमान् ही हैं। उनके मिलते ही मानो भक्तिके आश्रय और आलम्बन दोनों पक्ष पूरे हो गये और भक्तिकी पूर्ण स्थापना लोकमें हो गयी। इसी रामभक्तिके प्रभावसे हनुमान्‌जी सब रामभक्तोंकी भक्तिके अधिकारी हुए।

सेवकमें जो-जो गुण चाहिये सब हनुमान्‌में लाकर इकट्ठे कर दिये गये हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि निरालसता और तत्परता स्वामीके कार्योंके लिये, सब कुछ करनेके लिये, उनमें हम हर समय पाते हैं। समुद्रके किनारे सब बन्दर बैठे समुद्र पार करनेकी चिन्ता कर ही रहे थे, अंगद फिरनेका संशय करके आगा-पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गये। लक्ष्मणजीको जब शक्ति लगी तब वैद्यको भी चट हनुमान् ही लाये और औषधिके लिये भी पवनवेगसे वे ही दौड़े। सेवकको अमानी होना चाहिये। प्रभुके कार्यसाधनमें उसे अपने मान-अपमानका ध्यान न रखना चाहिये। अशोकवाटिकामेंसे पकड़कर राक्षस उन्हें रावणके सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इसपर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगदकी तरह *'हौं तव दसन तोरिबे लायक'* वे नहीं कहते हैं। ऐसा

नोट— ये दोनों भाव पंजाबीजीकी टीकाके हैं। वे लिखते हैं कि 'प्रभुने तो यही कहा कि हम दाशरथी राम हैं। इतनेसे ही हनुमान्‌जीने कैसे जान लिया कि ये प्रभु हैं ? इतनेसे ही जान लिया होता तो पहिले ही क्यों न जाकर अयोध्यामें ही मिलते ? दशरथ नामसे सन्देह हो सकता था कि न जाने दशरथ नामके और भी कोई राजा हों। इससे पूर्व न मिले। यहाँ हनुमान्‌जीने विचार किया कि यदि ये वही प्रभु हैं तो यह वाणी ईश्वरी वाणी है, इसमें अपने स्वरूपका द्योतक गूढ़ अर्थ अवश्य होगा; तब इन्होंने उन वचनोंकी ओर चित्तकी वृत्ति लगायी। जो प्रभुने कहा कि 'आपन चरित कहा हम गाई।' इसमें 'गाई' (अर्थात् गाकर कहा है) यह शब्द हर्षका सूचक है और इनके वाक्योंका स्पष्ट अर्थ तो शोकमय भासित होता है। इससे गूढ़ अर्थ इन शब्दोंमें अवश्य है। वह सुनो'। (नोट—इसके बाद ऊपर दिये हुए दोनों अर्थ और भाव लिखे हैं और फिर और भी विस्तृत लेख हैं। पर ये सब बहुत क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।)

करनेसे प्रभुके कार्यमें हानि हो सकती थी। अपने मानका ध्यान करके स्वामीका कार्य बिगाड़ना सेवकका कर्तव्य नहीं। वे रावणसे साफ कहते हैं—*'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥'*

पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥६॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही॥७॥

अर्थ—शरीर रोमाञ्चित हो गया, मुखमें वचन नहीं आता। सुन्दर वेषकी सुन्दर रचनाको देख रहे हैं॥६॥ फिर धीरज धरकर स्तुति की, अपने नाथ (उपास्यदेव, इष्ट, ध्येय) को पहिचानकर हृदयमें हर्ष एवं प्रेम हो रहा है॥७॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ हनुमान्‌जीके मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा दिखायी। *'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।'* यह मनकी दशा है, क्योंकि सुख होना मनका धर्म है। *'पुलकित तन'* यह शरीरकी दशा है और *'मुख आव न बचना'* यह वचनकी दशा है। (ख) *'आव न बचना'* का भाव कि स्तुति करनेकी इच्छा है, जैसा आगेके *'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही'* से स्पष्ट है। (ग) *'धीरज धरि'* से जनाया कि प्रभुका स्वरूप देखकर धीरज छूट गया था। *'तब मुनि हृदय धीर धरि''''* (आ० १०) और *'नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता॥'* (५ । ४५ । ६) देखिये। (घ) पूर्व कहा था कि प्रभुको पहिचानकर सुख हुआ और अब कहते हैं कि नाथको 'चीन्हनेसे' हर्ष हुआ। तो हर्ष और सुखमें पुनरुक्ति हुई ? नहीं। हर्ष शब्द प्रीतिका भी वाचक है। यथा—'**श्लोकमुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः**' इति (अमरकोश) यहाँ अर्थ है कि अपने नाथको पहिचाननेसे प्रीति हुई। (ङ)—यहाँ स्वरभंग सात्त्विक अनुभावका उदय है। सुखकी दशा जो ऊपर देखनेमें आती है उसका वर्णन यहाँ किया है।

प० प० प्र०—यहाँ वर्णनमें क्रम-भङ्ग हुआ है। वास्तविक रीत्या *'हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही'* यह चरण पहले होना चाहिये तब *'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।'* कारण कि स्तुति तो अगली अर्धालीसे करते हैं। इससे दर्शित होता है कि श्रीहनुमान्‌जी अवर्णनीय सुखानुभव और प्रेमातिशयसे अपनी विचारशक्तिसे बाहर हो गये हैं और कविका हृदय उनके हृदयसे तदाकार हो गया है।

प्र०—रुचिर वेषकी रचनाके यथार्थ जानकार हनुमान्‌जी ही हैं। देखिये श्रीजानकीजीने इनसे रघुनाथजीके जाननेका प्रश्न किया तब इन्होंने सर्वाङ्गका वर्णन किया है। यथा—**यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च वानर। तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत्॥ कीदृशं तस्य संस्थानं रूपं तस्य च कीदृशम्। कथमूरू कथं बाहू लक्ष्मणस्य च शंस मे॥ एवमुक्तस्तु वैदेह्या हनूमान्मारुतात्मजः। ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥**' (वा० ४। ३५। ३५) इसके आगे १७ श्लोकोंमें सूक्ष्मरीतिसे अङ्गोंका वर्णन है। श्लोक १५ से २३ तक सामुद्रिकका वर्णन है और श्लोक ८ से १४ तक उनके फल कहे गये हैं। अयोध्याकाण्ड ११२ (४) में उनका उल्लेख आ चुका है। पाठक वहीं देखें।

नोट—१ प्रभुके *'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई'* इस गूढ़ वाणीका प्रभाव हनुमान्‌जीपर पड़ा, उनकी क्या दशा हो गयी, इत्यादिका पता *'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।'* इत्यादि चौपाइयोंमें कविने भलीभाँति दरसाया है। जिस परानन्दका अनुभव वे करके मग्न हो गये हैं वह वही जाने जिसे वह प्राप्त हुआ हो, शिवजी ही जब नहीं कह सकते तब दूसरा कौन कह सकता है ? वे बोल नहीं सकते हैं। प्रभुके प्रश्नका उत्तर वे अपने *'परेउ गहि चरना'* से दे रहे हैं। इस मूक उत्तरमें क्या नहीं भरा है ? जो कुछ वे आगे कहते हैं वह इस मूक उत्तर-राशिका एक कणमात्र है। इस दशाका सुन्दरकाण्डके *'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरष हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥'* (३२) इस दोहेसे मिलान कीजिये।

दोनों जगह हनुमान्‌जी अपनी अत्यन्त दीनता और मन, कर्म, वचनसे शरणागति दिखा रहे हैं। यहाँ पश्चात्ताप है, वे बहुत घबड़ा गये हैं और सच्ची दीनता प्रकट कर रहे हैं कि मैं मायाके फेरमें पड़ गया, जो प्रभुको न पहिचान सका था और सुन्दरकाण्डमें यह सोचकर घबड़ा गये कि कहीं मुझे मोह न ग्रस ले। पुनः वचन सुनते मात्र ही इस दशाका प्राप्त हो जाना हनुमान्‌जीकी असाधारण भक्ति और उनके पराकाष्ठाके

अलौकिक प्रेमका परिचय दे रहा है।

गौड़जी—*'निज नाथहि चीन्ही'* इति। बालकाण्डमें कहा है कि *'हरिमारग चितवहिं मतिधीरा।'* (१। १८८। ४) कपिलोग जिसकी बाट जोह रहे थे। आज वही मिले। हनुमान्‌जीने प्रभुको पहचान लिया। यहाँ एक भाव और है। बाल्यावस्थामें हनुमान्‌जी प्रभुकी सेवामें रह चुके थे। पचीस वर्ष पीछे देखते हैं। फिर राजकुमार नहीं, तपस्वीके वेषमें। ऐसी जगह जहाँ कि कोई आशा न थी। इसलिये न पहचान सके। इसीलिये यह उपालम्भ है कि— *'मोर न्याउ मैं पूछा साँई'* पर *'तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।'*

मोर न्याउ मैं पूछा साँई। तुम्ह पूछहु कस नर की नाँईं॥ ८॥
तव माया बस फिरौं भुलाना। तातें मइँ नहिं प्रभु पहिचाना॥ ९॥

दो०—एकु मैं मंद मोहबस कुटिल* हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥ २॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि हे स्वामी! मैंने जो पूछा वह मेरा पूछना तो न्याय था (अर्थात् मेरा पूछना उचित ही था, क्योंकि मैंने मायावश होनेसे नहीं पहचाना था)। पर आप कैसे मनुष्योंकी तरह पूछते हैं? (अर्थात् आपका पूछना अयोग्य है, न्याय नहीं है, क्योंकि आप तो सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधन हैं, विज्ञानरूप हैं, आपमें अज्ञान कैसा? अज्ञान ही अन्याय है)॥ ८॥ मैं तो आपकी मायाके वश भूला हुआ फिरता हूँ; इसीसे मैंने प्रभुको नहीं पहिचाना॥ ९॥ एक तो मैं मन्द हूँ, मोहके वश हूँ, हृदयका कुटिल और अज्ञानी हूँ, उसपर भी, हे प्रभो! हे दीनबन्धु भगवान्! आपने मुझे भुला दिया। (अर्थात् भुलाया न होता तो हमसे प्रश्न न करते।) (दो० २)

वै०—*'मोर न्याउ'* इति। हनुमान्‌जीने विचारा कि जिन्होंने बालपनमें तो हमको बुलाकर शरणमें रखा वे ही अब हमसे पूछते हैं। मैं स्वयं भूला हूँ तब क्या उत्तर दूँ। अतएव न्यायशास्त्रसे उत्तर दिया कि मैंने तो *'मोर न्याउ'* से पूछा। अर्थात् मैं और मोर माया है, मैं उस मायामें पड़कर भूल गया। मोर न्याय=मायाके कारण; मायावश जीवोंके न्यायानुसार।

टिप्पणी—१ (क) *'तव मायाबस फिरौं भुलाना'* इति। तात्पर्य कि मायावश होनेसे ईश्वरकी पहिचान नहीं रहती। इससे यह पाया गया कि मायाने भुला दिया, न पहिचाननेमें मायाका दोष है, हमारेमें कुछ दोष नहीं, इसीपर आगे अपने दोष कहते हैं। (ख) *'तव माया'* कहकर जनाया कि आपकी माया प्रबल है, यथा—*'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥'* (२१। २)

टिप्पणी—२ *'एकु मैं मंद……'* इति। भाव कि एक तो मायाने हमको वशमें कर लिया, फिर आपने भी भुला दिया और मैं तो अवगुणोंका कोश हूँ ही तब आपको कैसे पहिचान सकता ? (ख) *'प्रभु, दीनबन्धु* और *भगवान्'* का भाव कि दीनके कष्ट निवारण करनेमें आप समर्थ हैं और दीनकी दीनता छुड़ानेमें ऐश्वर्यवान् हैं। *'दीनबन्धु'* से कृपालुता और *'भगवान्'* से योग्यता दोनों गुण कहे। तात्पर्य यह है कि आप कृपालु हैं, सब लायक हैं, ऐसे होकर भी आपने हमको भुला दिया।

वि० त्रि०—*'एकु मैं मंद मोहबस'* इत्यादि। मोहवश अर्थात् मायाके वश पड़ा हुआ स्वरूपको भूल गया हूँ, (यथा—*'माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो।'*), इसलिये मन्द हूँ। पर संसारमें तो प्राय: सभी स्वरूपको भूले हुए हैं, इसपर कहते हैं कि मैं कुटिल हूँ, माया करके ब्राह्मणका स्वरूप धारण करके सरकारको ठगने आया हूँ, क्योंकि हृदयमें प्रकाश नहीं है, अज्ञानान्धकार छाया हुआ है, मैं यदि सरकारको भूल गया तो उसके कारण प्रत्यक्ष हैं, परंतु आप तो किसी जीवको नहीं भूल सकते, क्योंकि आपका वचन

* भा० म० का पाठ 'एक मंद मैं मोह बस कीस हृदय अज्ञान' है।

है कि '*सब मम प्रिय सब मम उपजाये*', सो आप मुझसे पूछते हैं कि '*कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।*' आप दीनबन्धु भगवान् होकर मुझे भूल गये। '**उत्पत्तिं प्रलयं चैव जीवानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥**' जीवमात्रकी गति-अगतिके जाननेवाले आप मुझे कैसे भूल गये ?

नोट—१ (क) '*एकु मैं मंद मोहबस*……' इति। मन्द क्योंकि वानर कुटिल अर्थात् अन्याय करनेवाला होता है। मोहवश इससे कि वानर मरा बच्चा लिये रहता है और अज्ञान कि दानेके लिये घट आदिमें हाथ डालकर क्षणमें ही भूलकर पकड़ा जाता है। (शीला) ये तीनों दोष (मन्द, मोहबस और कुटिलहृदय) कपिजातिके धर्म हैं और 'अज्ञान' तमोगुणी रुद्रका धर्म कहा। पर यहाँ ये दोष अपनेमें कार्पण्य शरणागतिकी रीतिसे कहे गये हैं। (रा० प्र०)

(ख) मदादि अपने दोष और '*दीनबन्धु भगवान्*' ये प्रभुके गुण जनाये, यह सेवकका धर्म है, यथा— '*गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा*' (विनय-पत्रिकामें भी—'*हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।*……' '*कैसे देउँ नाथहिं खोरि*……' और '*है प्रभु मेरोई सब दोष।*……' इत्यादि पद इसी भावका समर्थन करते हैं।) (मा० त० प्र०) [नोट—'*एकु मैं मंद*……' का भाव कि '*दीनबन्धु, भगवान्* और *प्रभु*' होकर आपने भी बिसार दिया, यह मेरा अभाग्य है।]

रा० प्र० श०—मोहवश होनेसे बुद्धि मन्द हो जाती है जिससे अज्ञान पाकर जीव कुटिल हो जाता है। ये सब हों परंतु यदि भगवान् न भुला दें तो जीवकी हानि न हो। (इसीसे गोस्वामीजी कवितावलीमें कहते हैं—'*कलि की कुचालि देखि दिन दिन दूनी देव पाहरूई चोर हेरि हिय हहरानु है। तुलसी की बलि बारबार ही सँभार कीबी जद्यपि कृपानिधान सदा सावधान है।*' (७।८०) प्रभुके दीनबन्धुता-गुणसे ही जीव मायासे छूटकर प्रभुको पहिचान सकता है।

मा० त० प्र०—'*एक*' का अर्थ 'प्रधान' वा 'शिरोमणि' है। अर्थात् मैं मन्द, मोहवश और कुटिलोंका शिरोमणि हूँ। (पर आगे 'पुनि' शब्द इस अर्थका समर्थक नहीं है।')

प० प० प्र०—साहित्यिक पण्डित इस दोहेमें यतिभंग दोष कहते हैं पर वे भूल जाते हैं कि मानस नाट्य-काव्य है। नाट्यमें जैसा पात्र होगा वैसी भाषा भी चाहिये। इस पात्रका धैर्य छूट गया है, वह सोचता है कि '*प्रभु मोहि बिसारेउ।*' वह स्वयं कह रहा है कि मैं मतिमन्द मोहवश हूँ। अत: यह 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। नाटकमें '*जो बालक कह तोतरि बाता।*' तो वह बात तोतली भाषामें लिखनी चाहिये। यह तो काव्य गुण है न कि दोष।

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरे॥ १॥
नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा॥ २॥

अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि मुझमें बहुत-से अवगुण हैं तथापि सेवक प्रभुको भोरे न पड़े, अर्थात् अवगुणी होनेपर भी स्वामी सेवकको न भुलावें॥ १॥ हे नाथ ! जीव आपकी मायासे मोहित है, वह आपकी ही कृपासे छूट सकता है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) '*बहु अवगुन*' इति। प्रथम अपनेमें चार अवगुण कहे—मन्द, मोहवश, कुटिलहृदय, अज्ञान। अब कहते हैं कि इसमें ये ही चार अवगुण नहीं हैं वरन् अगणित हैं। (ख) प्रथम मायाके वश होना और सेवकके अवगुणोंके कारण स्वामीका उसको भुला देना ये दो बातें कहीं, फिर दोनोंके छूटनेके लिये प्रार्थना करते हैं। पहले जो कहा था कि '*तव मायाबस फिरौं भुलाना*', उसके लिये प्रार्थना की कि '*नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा॥*' आशय यह है कि मैं मायामोहित हूँ, मायामोहसे कृपा करके छुड़ाइये। फिर जो कहा था कि '*एकु मैं मंद मोहबस कुटिलहृदय अज्ञान। पुनि प्रभु मोहि बिसारेहु*……' उसके लिये प्रार्थना करते हैं कि '*जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे*……' अर्थात् हमारे अवगुणोंसे हमको न भुलाइये। क्योंकि '*जौं करनी समुझैं प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥*' (७। १। ५)

☞'*जीव*' पर विरोध, उपाय और फल, इन पाँचों स्वरूपोंका ज्ञान जीवके निस्तारके लिये परमावश्यक

कहा गया है। इन पाँचोंका ज्ञान अर्थपञ्चक ज्ञान कहा गया है। यथा—'**प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ ज्ञातव्यमेतदर्थानां पञ्चकं मन्त्रवित्तमैः।**' ये पाँचों स्वरूप हनुमान्‌जीकी इस स्तुतिमें दिखाये गये हैं। यथा—

१ जीवस्वरूप—'***तव माया बस फिरौं भुलाना***', '***सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा***' और '***मोर न्याउ मैं पूछा साँई***' यह जीवका स्वरूप है। जीव मायाके वश है और उसका छूटना प्रभुके अधीन है। गोस्वामीजीने अन्यत्र भी कहा है—'***हर्ष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।***' (१। ११६। ७) एवं '***तव माया बस जीव जड़ संतत फिरइ भुलान।***' (७।१०८)

२ परस्वरूप—'***तव माया बस***', '***सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा***', '***पुनि प्रभु मोहि बिसारेहु दीनबंधु भगवान***' और '***तुम्ह कस पूछहु*****' में परस्वरूप कहा। जैसा अरण्यकाण्डमें कहा है, यथा—'***बंध-मोक्षप्रद सर्बपर मायाप्रेरक सींव।***'

३ विरोधस्वरूप—अर्थात् मायाका स्वरूप जो भगवत्-शरणागतिका बाधक है। '***माया बस***', '***माया मोहा***' में विरोधस्वरूप कहा गया। क्योंकि '***मोहबस***' करना यह मायाका वा विरोधस्वरूप है। यथा—'***बरिआईं बिमोह बस करई।***' इत्यादि।

४ उपायस्वरूप—'***सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनै प्रभु पोसे॥***' इसमें शुद्ध उपायशून्य प्रपत्ति ही तरनेका उपाय बताया।

५ फलस्वरूप—'***परेउ गहि चरना***' और '***अस कहि परेउ चरन अकुलाई।***' प्रभुकी प्राप्ति ही परम फल है।

नोट—१ '***जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे*****' इति। भाव यह कि अवगुण देखकर तो प्राकृत स्वामी त्याग देते हैं; पर आप तो समर्थ स्वामी हैं, आप तो अवगुण कभी देखते न थे, यथा—'***जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।***' (७। १। ६) '***अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।***' तब मुझे भी भुलाना न चाहिये था। पुनः भाव कि आप समर्थ हैं, मैं असमर्थ हूँ।

नोट—२ '***सो निस्तरै*****' यथा—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' (गीता ७। १४) अर्थात् यह मेरी त्रिगुणात्मिका माया निःसन्देह दुस्तर है जो एकमात्र मेरी शरणमें प्राप्त होते हैं वे ही इससे पार पाते हैं। पुनः, यथा—'***ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।*****सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।***' (७। ७१) '***है श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै। तुलसिदास यहि जीव मोहरजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।***' (विनय० १०२) अर्थात् जिसने जीवको मोहरूपी रस्सीसे बाँधा है वही छोड़नेको समर्थ है, दूसरा नहीं।

☞भगवान् रामानुजाचार्यजी उपर्युक्त गीता ७। १४ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—सत्त्व, रज और तमोमयी माया दैवी है। लीलाके लिये प्रवृत्त परम प्रभुके द्वारा निर्मित है। इसलिये इसको पार करना नितान्त ही कठिन है। असुरों, राक्षसों और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है।······ अतएव 'माया' शब्द मिथ्या वस्तुका वाचक नहीं है। बाजीगर आदिको भी किसी मन्त्र या ओषधिके द्वारा मिथ्या वस्तुके विषयमें सत्यता बुद्धि उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण ही 'मायावी' कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मन्त्र और औषध आदि ही माया है। सब प्रयोगोंमें अनुगत एक ही वस्तुको (माया) शब्दका अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओंमें जो माया शब्दका प्रयोग है वह माया-जनित बुद्धिका विषय होनेके कारण औपचारिक है। जैसे कि 'मचानें चिल्ला रही हैं' यह प्रयोग है। यह गुणमयी सत्य वस्तु भगवान्‌की माया ही '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।**' (श्वेता० ४। १०) इत्यादि श्रुतियोंमें कही गयी है।

भगवान्‌के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना इस मायाका कार्य है। इसलिये भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ सब जगत् असीम अतिशय आनन्दस्वरूप भगवान्‌को नहीं जानता।

श्लोकके उत्तरार्धमें मायासे छूटनेका उपाय बताया है। भगवत्-शरणागति ही एकमात्र उपाय है। और यह शरणागति भी श्रीहरिकृपासे ही होती है, इसीसे *'सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा'* कहा।—*'छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।'* यह श्रीभुशुण्डिजीका वाक्य है।

ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानौं नहिं कछु भजन उपाई॥ ३॥
सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनै प्रभु पोसे॥ ४॥
अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तन प्रगटि प्रीति उर छाई॥ ५॥

अर्थ—उसपर भी, हे रघुबीर! मैं आपकी दोहाई (शपथ) करके कहता हूँ कि मैं न तो कुछ भजन जानता हूँ और न कुछ उपाय ही (वा, भजनका उपाय नहीं जानता)॥ ३॥ सेवक स्वामीके और सुत माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है तो प्रभुको पालन करते ही बनता है॥ ४॥ ऐसा कहकर श्रीहनुमान्‌जी अकुलाकर श्रीरामजीके चरणोंमें गिर पड़े, प्रीति उनके हृदयमें छा गयी और उन्होंने अपना (कपि) तन प्रकट कर दिया॥ ५॥

नोट—१ *'रघुबीर दोहाई'* का भाव कि आप दया, पराक्रम, विद्या आदि पञ्चवीरतायुक्त हैं, समर्थ हैं, यदि मैं झूठ कहता हूँ तो आप मुझे दण्ड देंगे और यदि सत्य कहता हूँ तो आप मुझपर दया करेंगे, मुझे अपना लेंगे। *'कछु भजन उपाई'* का भाव कि यदि भजन थोड़ा भी हो तो भी आप उसे बहुत मान लेते हैं पर मुझमें कुछ भी भजन नहीं है। (रा० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) *'भजन उपाई'*=भजनका उपाय अर्थात् साधन। यथा—*'भगति के साधन कहउँ बखानी।'* (३। १६। ५) *'कछु'* का भाव कि भजन थोड़ा भी हो तो माया कुछ नहीं कर सकती यथा—*'तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥'* (७। ११६। ७) (ख) *'जानौं नहिं कछु भजन उपाई'* कहनेका भाव कि मायामोहित जीवका तरना दो तरहसे है। एक तो आपके छोहसे, दूसरे भजनसे। सो मैं भजनका उपाय नहीं जानता, आपकी कृपासे ही निस्तार होगा। मायासे तरना कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं।

☞ यह प्रपन्न-शरणागतिका लक्षण है। इसमें दो भेद हैं। एक पुरुषार्थयुक्त, दूसरा पुरुषार्थहीन। अतः दोनोंके उदाहरण देते हैं। *'सेवक सुत पति मातु भरोसे'*—सेवकके समान और जीव हैं, सेवकमें कुछ पुरुषार्थ है, हम छोटे बालकके समान पुरुषार्थहीन हैं। केवल आपहीके भरोसे हैं। यही शरणागति श्रीरामजीने नारदजीसे कही है, यथा—*'सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा॥ करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'* (३। ४३)

टिप्पणी—२ (क) *'सेवक सुत पति मातु भरोसे।'*.......... इति। श्रीहनुमान्‌जीने अपनेमें अनेक अवगुण कहे हैं। यथा—*'जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे।'* अब एक गुण कहते हैं—स्वामीका भरोसा। इसी गुणसे स्वामी प्रसन्न होते हैं, यथा—*'है तुलसी के एक गुन अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो राम रीझिबे जोग॥'* (दो० ८५) (ख) यहाँ हनुमान्‌जीका तन-मन-वचनसे शरण होना दिखाया। तनसे चरणपर पड़े, मनसे प्रीति की और वचनसे स्तुति की।

[नोट—प्रपत्ति और अनन्य उपाय अर्थात् उपायशून्य शरणागति इसीको कहते हैं कि उपाय और उपेय दोनों आप ही हैं, कोई वसीला या कोई साधन और नहीं है।]

पं० रा० व० श०—ऊपर कहा था कि *'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही'* वह स्तुति क्या है? यही है कि अपना जीवका स्वरूप कहा, अपने और श्रीरामजीमें सेवक-स्वामीका भाव दिखाया, अपने अवगुण और प्रभुके गुण कहे।

मा० त० प्र०—*'सेवक सुत पति मातु भरोसे।'*, *'रहइ असोच'* का भाव कि आप मेरे पति (स्वामी) और माता दोनों हैं तब कैसे नहीं पालन करेंगे। [*'रहइ असोच'* का भाव कि योगक्षेमका कोई उपाय नहीं करता। भगवान्‌ने गीतामें भी यही कहा है कि जो अनन्य भक्त लोग मुझे चिन्तन करते हुए भलीभाँति

मेरी उपासना करते हैं उन नित्ययुक्त पुरुषोंका योगक्षेम मैं बहन करता हूँ—'**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।**' (९।२२) यही भाव *'रहइ असोच'* का है। (पं० रा० व० श०)] *'रहइ असोच'* के उदाहरण अम्बरीषजी, प्रह्लादजी और भरतजी आदि हैं। यथा—*'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई'*......', *'सेवक छोह ते छाँड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारयो। तौ लौं न दाप दल्यौ दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मारयो॥'*— (क) *'लोकहु बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥'* (२। २१८। ७) इत्यादि।

पा०, प्र०—श्रीरामजीके यथार्थतत्त्वके ज्ञाता भक्तशिरोमणि हनुमान्‌जी अपनेको 'अज्ञानी' कहते हैं, यह कार्पण्यशरणागति है जो शरणागतिके छः अङ्गोंमेंसे प्रधान अङ्ग है। जैसे गोसाईंजीने कहा है कि *'कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥'* धनकी कृपणता मनुष्योंको मन्द करती है और गुणकी कृपणता (अर्थात् बड़े होकर अपनेको छोटा मानना) अति उत्तम करती है। जैसा बिहारी-सतसईमें कहा है—*'नर की अरु नलनीरकी गति एकै करि जोय। ज्यों ज्यों नीचे ह्वै चलै त्यों त्यों ऊँचो होय॥'*

प्र०—*'बनै प्रभु पोसे'* से दीन साधनहीनकी गुरुता दिखलायी कि प्रभुको अवश्य इन दोनोंका पालन करना पड़ता है।

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जीके *'तापर मैं'*......*'पोसे'* ये वचन जीवोंके मार्गप्रदर्शक ध्रुव हैं। इनसे यह उपदेश मिलता है कि—(१) सब साधनाहङ्कार और जप तपादि साधनोंका भरोसा छोड़कर श्रीरामजीकी शरण ग्रहण करे और एकमात्र उन्हींकी कृपाका भरोसा रखे। (२) प्रपन्न होनेपर 'मेरा निस्तार कैसे होगा अथवा कब होगा' इत्यादिकी भी चिन्ता न रहनी चाहिये। (३) *'पति मातु भरोसे रहइ असोच'* यह शरणागतिका मुख्य लक्षण है।

मा० म०—*'परेउ अकुलाई'* इसका कारण यह है कि हनुमान्‌जीने अनेक प्रकारसे कहा पर रामचन्द्रजी कुछ न बोले। अतएव व्याकुल हो गये। रामचन्द्रजी अपनी टेक मिटाकर क्योंकर उत्तर देते, उनकी टेक है कि कपटसहित किसीको ग्रहण नहीं कर सकते। जब हृदयमें प्रीति छा गयी तब कपट छूट गया और अपना स्वरूप प्रकट हो गया तब प्रभुने उठाकर हृदयमें लगा लिया।

वि० त्रि०—आपके छोहसे ही निस्तार होता है सो आप ही भूल गये, मुझमें कोई साधन भी नहीं है, ऐसा कहकर अति आकुल होकर चरणपर गिरे। प्रीतिमें यह विशेषता है कि वह भेदको सहन नहीं कर सकती। हनुमान्‌जीने अपने वानरी शरीरको प्रकट नहीं किया, प्रीतिके हृदयमें छा जानेसे दुरावको स्थान नहीं रह गया, अतः अपने आप असली शरीर प्रकट हो गया यथा—*'प्रगट बखानत राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥'* शुकका राक्षसी शरीर प्रकट हो गया। *'रिपु कर दूत कपिन्ह तब जाने।'* इसी भाँति प्रेमके हृदयमें छा जानेसे आप-से-आप कपितन प्रकट हो गया।

मा० त० प्र०—(१) इतनी स्तुतिपर भी प्रभु नहीं बोले तब व्याकुल हो गये और चरणोंपर गिर पड़े। (२) कपितन प्रकट करनेका भाव कि मैं सुग्रीवके कल्याणार्थ कपट-विप्र बना पर ये बालिके भेजे हुए नहीं हैं; अब यदि मैं कपटवेष नहीं छोड़ता हूँ तो मैं और सुग्रीव दोनों ही अनाथ रह जाते हैं, अतएव कपितन प्रकट किया।

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जीकृत स्तुति मानसकी चौदहवीं स्तुति है और नक्षत्रोंमें चौदहवाँ नक्षत्र 'चित्रा' है। इन दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) चित्रामें एक ही तारा है। वैसे ही इस स्तुतिमें *'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच'*......' यही तरणोपाय तारा है। (२) 'चित्रा विषुव वृत्तिके समीप और बीचो-बीचमें है, वैसे ही यह स्तुति (किष्किन्धाकाण्डरूपी) मानसके मध्यमें है। (३) नक्षत्रका नाम चित्रा। वैसे ही यह स्तुति चमत्कृतिनिधान है, अलौकिक है और हनुमान्‌जीका चरित्र भी विचित्र है। (४) चित्राका रूप मोती-सा है। मोती चन्द्रका रत्न है और हनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीके अमूल्य रत्न हैं। चन्द्रमाकी कर्तृत्व शक्ति मोतीके धारण करनेसे बढ़ती है वैसे ही रघुवीरचन्द्रकी इनसे। मुक्ता धारण करनेसे चन्द्रमा अनुकूल

होते हैं वैसे ही श्रीहनुमान्‌जीको सहायक बनानेसे श्रीरामचन्द्रजी। (५) चित्राका देवता त्वष्टा, वैसे ही सीताशोध और रामकार्यके त्वष्टा श्रीहनुमान्‌जी। (६) बालकाण्डमें चौदहवें गुणग्रामकी फलश्रुति है—*'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।'* (१।३२।८) हनुमान्‌जी शंकरजीके अवतार हैं ही। शिवजी पुरारि हैं तो ये भी रावणके पुरके अरि हैं। श्रीरामजी अतिथिके समान अनपेक्षित आये। भाव यह है कि इस स्तुतिका पाठ जो प्रेमसे करेगा वह श्रीरामजीका प्रियतम हो जायगा जैसे श्रीरामजी शिवजीके प्रियतम हैं।

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥६॥
सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥७॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने श्रीहनुमान्‌जीको उठाकर हृदयसे लगा लिया और अपने नेत्रोंके जलसे सिंचन करके शीतल किया॥६॥ (फिर बोले—) हे कपि! सुनो, जीमें अपनेको न्यून मत मानो। तुम मुझे लक्ष्मणसे दूने प्रिय हो॥७॥

टिप्पणी—१ (क) *'तब'* अर्थात् जब मन-वचन-कर्मसे शरण हुए। पुनः दूसरा भाव कि प्रथम बार जब हनुमान्‌जी चरणोंपर पड़े थे तब श्रीरामजीने उनको हृदयसे न लगाया पर जब विप्रतन छोड़कर निज-तन प्रकट किया तब हृदयमें लगाया, क्योंकि श्रीरामजीको कपट नहीं भाता, यथा—*'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'* हनुमान्‌जी वानर हैं और विप्ररूप धारण किये हैं, यही कपट है। ☞उपदेश है कि यदि प्रभुकी कृपा चाहो तो कपट त्यागकर प्रभुमें प्रेम करो। देखिये, प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं तो भी उन्होंने कपटी विप्रको अङ्गीकार न किया तब दूसरे वर्णोंका कहना ही क्या? भरतजीके भी वचनोंसे यह उपदेश पुष्ट होता है। यथा—*'कपटी कुटिल नाथ मोहि चीन्हा।'* (ख)—*'सींचि जुड़ावा'* का भाव कि हनुमान्‌जीके हृदयमें प्रभुके 'बिसरावने' की ताप थी, जब श्रीरामजीके नेत्रोंसे प्रेमरूपी जल चला तब हनुमान्‌जी, यह जानकर कि मुझपर श्रीरामजीका प्रेम है, शीतल हो गये, प्रभुने मुझे भुला दिया यह हृदयका संताप मिट गया। [प० प० प्र० का मत है कि हनुमान्‌जीके हृदयमें पश्चात्ताप था कि *'कीन्ह कपट मैं' 'प्रभु सन'* इस पश्चात्तापरूपी अग्निसे संतप्त थे। वह संताप मिटा। जैसे श्रीसतीजीको संताप था कि *'कीन्ह कपट मैं संभु सन'* (१।५७)......*तपै अवाँ इव उर अधिकाई।'* सात्त्विक प्रेम-भावसे जो जल नेत्रोंमें आता है वह शीतल होता है और क्रोध, शोक, भय-विषाद आदि भावोंसे जो अश्रु निकलते हैं वे उष्ण (गर्म) होते हैं। हर्ष और दुःखके अश्रु, पुलक, नेत्र आदिके चिह्न बालकाण्ड दोहा २२८ में लिखे जा चुके हैं। (ग) *'सुनु कपि'*—जब-जब श्रीरामजी बालक-सुत-सम दासोंपर परम प्रसन्न होते हैं तब-तब वे एकवचनका ही प्रयोग करते हैं। यथा—*'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥'* (३।११।२३) *'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥'* (३।४३।४) *'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं', 'सुनु कपि तोहि समान उपकारी॥'* (५।३२) इत्यादि। अतः *'सुनु कपि'* कहकर जनाया कि भगवान् परम प्रसन्न होकर बोले। इस भावकी पुष्टि *'तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना'* से होती है। (प० प० प्र०)] (घ) *'मानसि जनि ऊना'*—अपनेको बहुअवगुण-सम्पन्न बताना और प्रभुका दासको भुलाना समझकर घबड़ाना इत्यादि न्यून मानना है।

* लछिमन ते दूनाके भाव *

मा० त० भा०—(क) लोगोंमें इस प्रकार बोलनेकी रीति है कि जो अत्यन्त प्रिय होता है उसके समान या उससे अधिक प्रिय कहकर अपना अत्यन्त प्रेम जनाते हैं। यथा—*'तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।'* (२१।७) (यह सुग्रीवसे कहा है।), *'भरतहु ते मोहि अधिक पियारे।'* (७।८।८) (यह गुरुजीसे बानरोंके सम्बन्धमें कहा है) इत्यादि। वा, (ख)—लक्ष्मणजीसे भाईका नाता है, हनुमान्‌जीसे दासका नाता है और प्रभुको दास सबसे अधिक प्रिय हैं यथा—*'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना।'* अतः *'दूना'* कहा।

प० रा० व० श० जी—जब एक बच्चेके बाद फिर दूसरा बच्चा पैदा होता है तो माँको यह दूसरा बच्चा अधिक प्यारा होता है, यद्यपि दोनों उसीके बच्चे हैं। इसी प्रकार जो नया शरणागत होता है वह अधिक प्यारा होता है। पुनः, भाव यह कि लक्ष्मणजी तो हमारे अङ्गभूत हैं, सम्बन्धी हैं और तुम तो स्नेही हो। स्नेहीके सामने अन्य सब नाते फीके पड़ जाते हैं। यथा—*'नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।'* (वि० १६४)

प० प० प्र०—यह वचन केवल लौकिक भाषा-प्रयोग नहीं है परंतु वास्तविक है। यहाँ श्रीरामजी माधुर्यभावमें नहीं किंतु ऐश्वर्यभावमें हैं, यह अगली अर्धाली और दोहेसे सिद्ध है। लक्ष्मणजी तो दास्यभावसे सेवा करते हैं पर श्रीरामजी तो उनके साथ बन्धुभावनासे ही व्यवहार करते हैं। वे छोटे भाई हैं और *'ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः'* इस न्यायसे बड़े भाईकी सेवा करना उनका कर्तव्य है। इसमें कुछ विशेषता नहीं है। श्रीहनुमान्‌जीसे कुछ भी नाता नहीं है। फिर वे मनुष्य भी नहीं हैं तो भी वे श्रीरामजीके अनन्य सेवक शरणागत हैं। अतः उनकी सेवामें विशेषता है। *'दूना'* का केवल शब्दार्थ अभिप्रेत नहीं है किंतु भाव यह है कि तुम लक्ष्मणसे भी अधिक प्रिय हो। उत्तरकाण्डमें सबसे कहा है—*'सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'* (७। १६। ७-८)

वि० त्रि०—अपने हृदयके भावको दूसरेके हृदयमें अङ्कित कर देना ही भाषाका प्रयोजन है। शोभन-रीतिसे वह भाव हृदयमें उदित हो, इसलिये आलङ्कारिक भावका प्रयोग होता है। कुम्भकर्ण कितना विशाल था इस भावका उदय *'नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥'* बिना ऐसे कहे नहीं हो सकता था। यहाँ तात्पर्य कुम्भकर्णके बहुत बड़े डील-डौलसे है, पहाड़के नाप-जोखसे नहीं। इसी भाँति हनुमान्‌जीके अति प्रिय होनेके भावको उनके हृदयमें अङ्कित करनेके लिये *'तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना'* कहा गया, प्रेमके नाप-जोखके लिये नहीं। हनुमान्‌जीके हृदयमें भी नाप-जोखका भाव उदय ही नहीं हुआ। उन्होंने इतना ही अर्थ लगाया कि सरकार अनुकूल हैं, यथा—*'देखि पवनसुत पति अनुकूला।'* हनुमान्‌जीने ऐसे शब्दोंके प्रयोगका प्रभाव देख लिया था, अतः सीताजीके यह कहनेपर कि *'अहह नाथ हौं निपट बिसारी'* तुरंत बोले कि *'जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥'* (५। १४। १०) तो क्या यह अर्थ लगाया जायगा कि श्रीसीताजीका प्रेम रामजीसे कम था ?

पां०—लक्ष्मणजी केवल रघुनाथजीके सेवक हैं और महावीरजी श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके सेवक हैं; अतः दूना कहा।

मा० म०—हनुमान्‌जी अपने कपटवश सकुचा गये तब श्रीरामचन्द्रजीने दूना प्रिय कहकर वह संकोच मिटा दिया। ☞ कपट धारण किये हुए द्विजको भी श्रीरामचन्द्रजी नहीं अपनाते, यह स्मरण रखने योग्य है।

पं०, प्र०—दूना कहनेके हेतु—(क) कपि केवल दुःखमें सहायक, लक्ष्मण सुख-दुःख दोनोंमें। (ख) लक्ष्मणके प्रमादसे प्रिया-वियोग हुआ और इनके श्रमसे संयोग। (ग) लोकोक्ति है कि तुम हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो। (घ) लक्ष्मणको शक्ति लगेगी तब ये सहायक होंगे। वा, (ङ) दूना=दू ना=दो नहीं, जैसे *'सुख सुहाग तुम्ह कहँ दिन दूना'* में। अर्थात् समान प्रिय हो, दोनोंमें भेद नहीं। वा, (च) लक्ष्मण नररूपसे सेवा करते हैं और तुम्हारी सेवा कपिरूपसे होना अयोग्य है, अयोग्यमें योग्य होनेसे दूना कहा। वा, (छ) हनुमान्‌जीके जीमें 'ऊनता' है और लक्ष्मणजीके नहीं है। जितना ही मनुष्य अपनेको नीच मानता है उतना ही श्रीरघुनाथजी उसे ऊँचा मानते हैं। वा, (ज) रघुनाथजीकी ऐसी ही बान है, यथा—*'पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने', 'भरतहु ते मोहि अधिक पियारे', 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी'* इत्यादि। वा, (झ) लक्ष्मणजी रघुनाथजीके दुःखमें सहायक हैं और हनुमान्‌जी रघुनाथजी और जानकीजी दोनोंके दुःखमें सहायक हुए। वा, (ञ) महादेवजीके शेषजी भूषण हैं और हनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं। (शिव और शेष दोनों होनेसे दूना।)—[भूषणसे उसका धारण करनेवाला अधिक प्रिय होता ही है—(रा० प्र० श०)]

वा, (ट) उत्तरकाण्डमें सब भाइयोंसे अधिक प्रिय इनको कहा है, यथा—'*भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥*' अतएव दूना हुए।

करु०—लक्ष्मणजी मुझे अतिप्रिय हैं और तुम हम दोनोंको अतिप्रिय हो, इससे दूने हुए।

रा० प्र० श०—(क) लक्ष्मणजीने किसीसे मित्रता नहीं करायी, श्रीहनुमान्‌जीने सुग्रीवसे मित्रता करायी जिससे सब कार्य हुआ। (ख) लक्ष्मणजीसे शत्रुको अधिक हानि नहीं पहुँची, हनुमान्‌जी लंकाभर जला दी और सबके नाकमें दम कर दिया। (ग) हनुमान्‌जीसे जानकीजीको रामजीका संदेसा और रामजीको जानकीजीकी सुध और संदेसा सुनाकर दम्पतिको विरहानलसे बचाया। (घ) जब श्रीभरतजी चित्रकूट जाते थे तब लक्ष्मणजीने शत्रुभावसे आना कहा और देवताओंके समझानेपर उनका संदेह दूर हुआ था, हनुमान्‌जीने अपने मनमें ही भरतजीके विषयमें संदेह किया था कि '*मोरे भार चलिहि किमि बाना।*' फिर स्वयं ही यह समझकर सँभल गये कि ये श्रीरघुनाथजीके भाई हैं और प्रभुका प्रताप अप्रमेय है। अतः दूना कहा।

र० ब०—लक्ष्मणजी रामजीके रक्षक हैं। यथा—'*कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥*' और हनुमान्‌जी लक्ष्मणजीके रक्षक हैं,यथा—'**लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा।**' (सुदर्शनसंहिता)

मा० त० प्र०—दूनाका भाव एक यह भी हो सकता है—लक्ष्मणजी तो पूर्व भी सेवक थे और अब भी सेवक ही हैं और तुम तो स्वामीसे सेवक हुए (क्योंकि पूर्व शङ्कररूपसे माधुर्यमें स्वामी थे, अब हनुमान्‌रूप होकर सेवक बने हो)। अतः दूना प्रिय कहा।

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥८॥

दो०—सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥३॥

अर्थ—सब कोई (सभी) मुझे समदर्शी कहते हैं; पर मुझको सेवक प्रिय है (क्योंकि) वह (सेवक) भी अनन्यगति होता है अर्थात् उसको मैं ही प्रिय हूँ दूसरा नहीं॥८॥ हे हनुमन्त! वही अनन्य है जिसकी ऐसी बुद्धि टले नहीं कि जड़-चेतन (सारा जगत्) स्वामी भगवान्‌का रूप है और मैं सेवक हूँ॥३॥

नोट—१ '*समदरसी*·····' इति। इससे मिलता हुआ श्लोक गीतामें यह है—'**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥**' (९। २९) (अर्थात्) सब प्राणियोंमें मैं सम हूँ न मेरा कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय है। परंतु जो मुझको भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ। 'समदर्शी' में भाव यह है कि जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा सम भाव है। 'यह प्राणी जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है।

'*सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ*' में गीताके श्लोकके उत्तरार्धका भाव है। भाव यह कि मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाले भक्त मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों या निकृष्ट, वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें बर्तते हैं और मैं भी मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्य) '**ये भजन्ति तु मां भक्त्या**' का भाव 'अनन्यगति' में है। इसीको भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे इस प्रकार कहा है—'**नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥**' (९। ४। ६४) अर्थात् जिन भक्तोंकी एकमात्र परम गति, परम आश्रय मैं ही हूँ,

उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न सर्वदा निकट रहनेवाली लक्ष्मीको।—यह अनन्यगतिक सेवकके प्रियत्वका भाव है।

कैसा सेवक प्रिय है यह मानसमें भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धन जैसें॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।'* (५। ४८) इसी तरह उत्तरकाण्डमें जो प्रभुने भुशुण्डिजीसे कहा है—*'सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।'* (८६) उसके *'सुचि सुसील सेवक सुमति'* शब्द भी 'अनन्यगति' की ही व्याख्या है।

जैसे गीतामें **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** कहा है वैसे ही भागवतमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तोंके गुण—**'ये दारागार''''''मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः'''''** (९। ४। ६५-६६)—कहकर फिर यह कहा है कि **'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥'** (६८) अर्थात् मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता।—यह सब अनन्यगतिकके प्रियत्वका भाव है। 'अनन्य' कौन है यह स्वयं आगे कहते हैं।

मिलान कीजिये—*'रामहि सेवक परम पिआरा॥ जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* (२। २१९। १—५), *'निर्गुन सगुन बिषम सम रूपं।'* (३।११।११)

टिप्पणी—१ सब लोग मुझे समदर्शी कहते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि हम सेवकके लिये विषमदर्शी होते हैं, यह बात सब नहीं जानते, कोई-कोई ही जानते हैं।

☞ श्रीरूपकलाजी—*'जाके असि मति टरइ'* इति। *'मति न टरइ'* यह क्यों कहा ? इस कारणसे कि बुद्धिके चलायमान वा टलनेका कारण उपस्थित है। जब कहा कि सचराचरमात्रको स्वामी भगवान्‌का रूप देखे तब यह बुद्धि अवश्य हो जाती है कि हम भी तो चराचरमें हैं, अतः हम भी भगवान् ही हैं। इस भ्रममें पड़ जानेकी बहुत बड़ी सम्भावना है। इसीसे कहते हैं कि *'मति न टरै'* और इसीसे स्वामी और सेवक दोनों शब्द दिये गये कि अपनेको सेवक ही माने। जहाँ बुद्धि टली कि हानि हुई।

रा० प्र०—मति टलनेका संयोग है, क्योंकि जो चराचरको स्वामीका रूप देखेगा वह अपनेको कैसे उससे भिन्न मानेगा। इसीसे भक्तिपथमें हठका करना शठता नहीं माना गया है, यथा—*'भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।'*

श्रीसीतारामीय व्रजेन्द्रप्रसादजी सब जज कहते हैं कि 'सचराचररूप प्रभु और मैं सेवक कैसे ? जब प्रभु सचराचररूप हो गये तब मैं अलग रहा कहाँ ? भक्त अलग रह कहाँ सकता है ? जैसे पैर शरीरसे अलग रह कहाँ सकता है ? मगर पैर शरीरका सेवक ही तो है। वैसे ही मैं भी सचराचररूप भगवान्‌के चरणोंका सेवक हूँ। यथा—*'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ।'* (२।३०६)

टिप्पणी— २ (क) *'हनुमंत'* इति। यहाँ श्रीरामजी हनुमान्‌जीका नाम लेते हैं, इससे सूचित होता है कि हनुमान्‌जीने अपना नाम बताया है। [वाल्मी० और अ० रा० में हनुमान्‌जीने अपना नाम और सुग्रीवद्वारा भेजा हुआ बताया है, यथा—**'हनुमान्नाम वानरः'** (वाल्मी० ४।३।२१) **'हनूमान्नाम विख्यातो ह्यञ्जनीगर्भ-सम्भवः।'** (अ० रा० ४। १। २४) पर मानसमें ये दोनों बातें गुप्त रहीं। जब *'प्रीति उर छाई'* और कपितन प्रकट हुआ तब भगवान्‌ने *'कपि'* सम्बोधन किया—*'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना।'* इस प्रकरणमें ऐश्वर्य है यह *'हरष हृदय निज नाथहिं चीन्ही।'* (२। ७) से लेकर 'रहइ *असोच बनइ प्रभु पोसे।'* (३। ४) तक हनुमान्‌जीके सभी शब्दोंसे स्पष्ट है। अतः यहाँ पूर्व बालपनके परिचयसे कि जो किसी पुराणमें कहा जाता है, नाम जानना विशेष सङ्गत नहीं है। श्रीहनुमान्‌जीने जो कहा है कि *'मोर न्याउ मैं पूछा साईं।*

तुम्ह कस पूछहु नर की नाईं॥' उसीके अनुसार यहाँ ऐश्वर्यभावसे जानना विशेष सङ्गत है। जब हनुमान्‌जीका कपट वटुरूप छूटा तब इन्होंने भी अपना माधुर्यभाव छोड़ ऐश्वर्यभाव प्रकट कर दिया। ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः 'हनुमान्' नाम जानते हैं।]

टिप्पणी—३ *'मैं सेवक सचराचर रूप·······'* अर्थात् चराचरमात्रको अपने स्वामीका रूप देखते हैं। चराचरको स्वामीका रूप कहनेका भाव यह है कि अद्वैत भावसे न देखे अर्थात् द्वैतबुद्धिसे देखे। अथवा, स्वामी कहनेसे सब देवताओंकी उपासना रक्षित रह गयी कि जो जिसका उपासक है वह अपने स्वामीका रूप चराचरमें देखे। *'भगवंत'* कहनेका तात्पर्य कि सबमें षडैश्वर्यसम्पन्न रूप देखे, विषम दृष्टि न होने पावे। [मिलान कीजिये—**'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥'** (भा० ११। २। ४१) (अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, जीव, दिशा, वृक्ष, नदी और समुद्र और जो कुछ है, वह हरिका शरीर है, ऐसा मानकर भगवान्‌में अनन्य होके प्रणाम करे) **'भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च॥'** (महारामायण ४९। ८) अर्थात् हे देवि ! जो लोग पृथ्वी, जल, आकाश, देव, मनुष्य, असुर, चर और अचर सभी जीवोंमें शुद्ध मनसे श्रीरामरूप ही देखते हैं, पृथ्वीमें वे ही श्रीरामजीके उत्तम उपासक हैं।] इस प्रकरणमें ऐश्वर्य है, माधुर्य नहीं। प्रथम हनुमान्‌जीने कहा कि *'जानौं नहिं कछु भजन उपाई',* उसीके उत्तरमें यहाँ रामजीने भक्तिका स्वरूप कहकर भजनका उपाय बताया। [सब सखाओंको राजगद्दीके पश्चात् विदा करते समय भी श्रीभगवद्वचनामृत है कि *'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥'* (७ । १६)]

प० प० प्र०—अनन्य भक्तिका यही लक्षण केवलाद्वैतसम्प्रदायी श्रीज्ञानेश्वरजी, श्रीसमर्थ रामदासजी तथा श्रीएकनाथजी आदिने लिखा है। क्रमसे यथा—*'जे जे दिसे भूत ते ते भावि जे भगवंत।'* *'नारायण असे विश्वीं तयाची पूजा करीत जावी। म्हणोनियाँ तोषवावी कोणी तरी काया॥',* *'तत्काल पावावया ब्रह्मपूर्ण। सर्वां भूतीं भगवद्भजन॥ सांडोनियाँ दोष गुणा हें चि साधन मुख्यत्वें।'* इस अभ्याससे काम, क्रोधादिका जीतना सुलभ हो जाता है।

नोट—२ मिलान कीजिये—*'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदौं सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।'* (१। ७), *'सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* (१। ८। २), *'सातवँ सम मोहि मय जग देखा।'* (३। ३६। ३)—*'सदा सर्बगत जानि।'* (७।१६), *'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (७।११२)

नोट—३ बाबा हरिहरप्रसादजीने उत्तरार्धका यह अर्थ लिखा है—'चराचरसहित मैं स्वामी-भगवंतके रूपका सेवक हूँ।'

देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदय हरष बीती सब सूला॥ १॥

अर्थ—स्वामीको अनुकूल देखकर पवनसुत हृदयमें हर्षित हुए और उनका सब शूल जाता रहा॥ १॥

टिप्पणी—(क) *'देखि'* कहनेका भाव कि प्रथम हनुमान्‌जीने मनमें यह मान रखा था कि स्वामी मुझपर अनुकूल नहीं हैं, उन्होंने मुझे 'बिसरा' दिया है सो अब पतिकी अनुकूलता आँखोंसे देखते हैं कि उन्होंने हृदयमें लगाया, नेत्रोंके जलसे सींचकर ठंडा किया, लक्ष्मणजीसे दूना प्रिय कहा और भजनका उपदेश किया। (ख) 'सब शूल' वही हैं जो पूर्वमें कह आये हैं कि मैं मायाके वश हो गया; प्रभुको नहीं पहिचाना; उसपर भी प्रभुने भुला दिया। यही तीन शूल हैं। सब शूल नाशको प्राप्त हुए। पुनः प्रभुकी अनुकूलतासे त्रिविध भवशूल—जन्म, जरा और मरण भी नाश हुए, यथा—*'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला।'* (५। ४७। ६)

प्र०—*'सब सूला'* एक यह कि वालिके अभावमें सुग्रीवको राज्यका अधिकार नहीं था, पुत्रके होते भाई राज्याधिकारी नहीं होता। दूसरे, सुग्रीवके दुःखसे चारों वानरोंने दुःखी होकर उन्हें राज्य दे दिया था, उसीसे सुग्रीवकी परम हानि हुई। तीसरे, उसी हेतुसे अतिसभीत हैं। पुनः पवन प्रतिकूल होनेसे सबको शूल होता है, ये उन्हींके पुत्र हैं। उनको भी सब शूल—प्रभुको मोहवश न पहिचानना, प्रभुका भुला देना, इत्यादि हुए—प्रभुकी अनुकूलता देखकर वह सब मिटे।

प० प० प्र०—*'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'* (७। १२१। ३२) *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (७। १२१। २९) ये सब शूल मिट गये। भाव कि श्रीहनुमान्‌जी निर्मोह और कामक्रोधादि समस्त विकारोंसे रहित हो गये। सुग्रीवको राज्य देना काम है, वालिको दण्ड देनेकी इच्छा क्रोध है। भगवान्‌के स्पर्श और भाषणादिसे अब वे अकाम हो गये और परमधामके अधिकारी हो गये।

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जी प्रथम तो आप कृतार्थ हुए और अब आगे श्रीसुग्रीवजीकी भलाई करके उनको कृतार्थ करनेकी प्रार्थना करते हैं।

श्रीमारुति-मिलन-प्रसंग समाप्त हुआ।

'सुग्रीव-मिताई'-प्रकरण

नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई॥ २॥

अर्थ—(तब श्रीहनुमान्‌जीने कहा)—हे नाथ ! (इस) पर्वतपर वानरोंके स्वामी (सुग्रीव) रहते हैं। वह सुग्रीव आपके दास हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) शंका—कपिपति तो वालि है, सुग्रीवको कपिपति कैसे कहा ? समाधान—सब मन्त्री सुग्रीवको राज्य दे चुके हैं, यथा—*'मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥'* (६। ९) [सुग्रीवके सम्मानहेतु *'कपिपति'* कहा; जैसे ग्रन्थकारने हनुमान्‌जीको 'कपिराई' कहा है, यथा—*'नव तुलसिकाबृंद तहँ देखि हरष कपिराई'* और लक्ष्मणजीने शूर्पणखासे कहा था कि *'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।'* (पं०) वा, भावी लखकर (कि अब ये अवश्य कपिपति हो जायँगे) *कपिपति* कहा। (पं०) अथवा वानरोंमें महान् चारों वानरोंके पति होनेसे ऐसा कहा। (रा० प्र०) कपिपति तो थे ही पर वालिने देश छुड़ा लिया और निकाल दिया। सभी मन्त्रियोंने राज्याभिषेक किया ही था। पुनः आगे, मित्रता करनेको कहना है। लोग अपने समानसे मित्रता करते हैं। श्रीरामजी राजा हैं, अतः सुग्रीवको पूर्व कुछ दिन राजा होनेसे ही राजा कहा]। (ख) *'कपिपति'* कहनेपर नाम जाननेकी इच्छा होगी कि कौन कपिपति है; अतएव दूसरे चरणमें नाम भी कहा—*'सो सुग्रीव'''*' जो केवल 'सुग्रीव' कहते तो सुग्रीव नामके अनेक पुरुष हो सकते हैं, इसमें सन्देह रहता कि कौन 'सुग्रीव' हैं, इससे *कपिपति'* कहा। (ग) *कपिपति'* हैं (अर्थात् राजा होकर) शैलपर रहते हैं इस कथनसे सूचित किया कि सुग्रीव दुःखी हैं। वनका दुःख समझकर श्रीरामजीने भी वनमें बसनेका कारण सुग्रीवसे पूछा है। यथा—*'कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव॥'* (५)

शंका—सुग्रीवसे और श्रीरामजीसे तो अभी भेंट नहीं हुई है तब सुग्रीव श्रीरामजीके दास कैसे हुए ? समाधान—(क) सुग्रीव ईश्वरके भक्त हैं और ये ईश्वर हैं। अथवा, (ख) ब्रह्माजीका वचन है कि—*'बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ।'* (१। १८७) इस वचनको मानकर वे आपका स्मरण करते हैं और दर्शनकी राह देखते हैं, यथा—*'हरि मारग चितवहिं मति धीरा।'* (१। १८७) इस प्रकारसे सुग्रीव रामजीके दास हैं।

वि० त्रि०—जब हनुमान्‌जीने सरकारको पहिचान लिया तब*'सो सुग्रीव दास तव अहई'* कहनेमें आपत्ति क्या है ? सुग्रीवजीके बड़भागी रामोपासक होनेमें तो संदेह हो नहीं सकता, यथा—*'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा अवतरइ प्रभु सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तब रहहिं मोक्ष सुख त्यागि॥'*

यह शंका अत्यन्त निर्मूल है कि अभी तो रामजीसे भेंट ही नहीं हुई, सुग्रीवजी दास कैसे हुए? उत्तर यही है कि आज भी ऐसे अनेक महात्मा हैं जो सरकारके दास हैं पर अभीतक उन्हें दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं है।

तेहि सन नाथ मयत्री* कीजै। दीन जानि तेहि अभय करीजै॥ ३॥

अर्थ—हे नाथ! उससे मित्रता कीजिये और उसे दीन जानकर अभय कीजिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम हनुमान्‌जीने कहा कि सुग्रीव कपिपति हैं और आपके दास हैं। अब दोनों वचनोंको क्रमसे घटाते हैं—सुग्रीव कपिपति हैं, उनसे मित्रता कीजिये। वे राजा और आप राजा, राजाको राजासे मित्रता करना योग्य ही है। यथा—*'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।'* (६। २३) सुग्रीव आपके दास और दीन हैं, यथा—*'कृत भूप बिभीषन दीन रहा।'* (छन्द ६। ११०) वे दीन हैं और आप दीनबन्धु हैं, सुग्रीव शत्रुके भयसे पीड़ित हैं (यथा—*'बालि त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥'* (१२। २) *'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरउँ बिहाला॥'*) और आप दासोंके अभयदाता हैं। (ख) *'दीन जानि'* इति। दीन कहनेका भाव कि जिसमें सुग्रीवकी दीनता सुनकर शीघ्र कृपा करें। यथा—*सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन।'* (वि० २०६) *'तेहि अभय करीजै'* का भाव कि उसके शत्रुको मारकर उसे अभय कर दीजिये और उनकी दीनता छुड़ाइये अर्थात् राज्य दीजिये।

सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि॥ ४॥
एहि बिधि सकल कथा समुझाई। लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई॥ ५॥

अर्थ—वह श्रीसीताजीकी खोज करायेगा। जहाँ-तहाँ करोड़ों बन्दरोंको भेजेगा॥ ४॥ इस प्रकार सब कथा समझाकर श्रीहनुमान्‌जीने दोनों जनोंको पीठपर चढ़ा लिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'सो सीता कर खोज कराइहि।—'* इति। (क) अब अपने दूसरे वचनको—कि 'सुग्रीव आपका दास है'—घटित करते हैं। दासका धर्म है कि सेवा करे; इसीसे कहते हैं कि *'सीता कर खोज कराइहि।'* श्रीसीताजीकी खोज कराना सेवा है, यथा—*'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥'* (४। ५। ८) (ख) *'तेहि अभय करीजै'* पहले कहकर तब कहा कि *'सो सीता कर खोज कराइहि।'* इस क्रमसे सूचित किया कि जब आप सुग्रीवको शत्रुरहित राजा करेंगे तब वे आपका कार्य करने योग्य होंगे। (ग) जहँ-तहँ=चारों दिशाओंमें। कोटि अनन्तवाची है।

नोट—१ *'सो सीता कर खोज कराइहि'* इति। 'श्रीरामजीने तो कहा था कि *'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।'* हनुमान्‌जीने कैसे जाना कि 'वैदेही' का नाम 'सीता' है? क्योंकि यह मान लेनेपर भी कि बचपनमें हनुमान्‌जी अयोध्यामें श्रीरामजीकी सेवामें थे यह सिद्ध नहीं होता कि वे 'सीता' नाम जानते थे, कारण कि उस समय विवाह नहीं हुआ था।' यह शंका उठाकर प्र० स्वामीजी यह अनुमान करते हैं कि जिस समय *'कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी',* उसी समय सीताजीने अपना नाम भी कहा था। पर इसमें भी प्रश्न होगा कि 'वैदेही' ही 'सीता' हैं यह क्योंकर सिद्ध हुआ, जबतक कि 'वैदेही' और 'सीता' दोनों शब्द उन्होंने न कहे हों। दूसरे, दो-चार ग्रन्थ जो देखने-सुननेमें आते हैं, उनमेंसे किसीमें सीताजीका अपना नाम बताना नहीं पाया जाता। मेरी समझमें तो 'श्रीरामाज्ञा-प्रश्न' सर्ग ४ के *'राम जनम सुभ काज सब कहत देवरिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ॥'* (२२) इस दोहेसे समाधान हो जाता है। देवर्षि नारदसे समस्त शुभ *'काज'* का समाचार श्रीहनुमान्‌जीको मिलता रहा है। जन्म, उपनयन, विवाह आदि सब 'मंगल काज' हैं। जब विवाह कहा गया तब सीताजीका विदेहराजकी

* मैत्री कीजै 'करीजे'—(भा० दा०) उपर्युक्त पाठ काशी और ना० प्र० का है। उत्तम पाठ 'मइत्री' है।—(गौड़जी)

कन्या होना भी कहा गया। दूसरे, सूर्यसे विद्या पढ़ना भी तुलसीके ही ग्रन्थोंसे स्पष्ट है—'*भानु, सों पढ़न हनुमान गए*' (बाहुक) सूर्यभगवान्‌ने ही इन्हें सुग्रीवकी रक्षाके लिये नियुक्त किया। तब सूर्यभगवान्‌ने यह भी कहा कि श्रीराम-लक्ष्मणजी श्रीसीताजीकी खोजमें आवेंगे इत्यादि। अतः जब ये जान गये कि ये श्रीराम-लक्ष्मण हैं तो यह भी जान गये कि वैदेही सीता हैं। तीसरे, जब श्रीहनुमान्‌जी यह जान गये कि ये ब्रह्म राम हैं, हमारे प्रभु हैं तब यह भी जानते ही हैं कि इनकी शक्ति श्रीसीताजी हैं।

टिप्पणी—२ '*एहि बिधि सकल कथा समुझाई।*······' इति। (क) श्रीरामजीका प्रश्न हनुमान्‌जीसे था—'*बिप्र कहहु निज कथा बुझाई*', उसका उत्तर इन्होंने यहाँ दिया—'*येहि बिधि सकल कथा समुझाई*'। '*येहि बिधि*' अर्थात् जैसा पूर्व कह आये कि '*नाथ सैल पर कपिपति रहई*' से '*जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि*' तक। (ख) '*समुझाई*' का भाव कि व्यवहार साफ चाहिये। सुग्रीवसे और श्रीरामजीसे मित्रता करानी है। पीछे कोई तर्क न उठे; इसलिये सब बात समझाकर कही। पुनः, श्रीरामजीका प्रश्न वा उनकी आज्ञा भी ऐसी ही है कि '*कहहु बुझाई*'; अतः '*कथा समुझाई*।'

टिप्पणी—३ '*पीठि चढ़ाई*' इति। रामचन्द्रजीको कोमलपदसे पैदल चलते देख हनुमान्‌जीको दुःख हुआ। इसीसे उन्होंने पीठपर चढ़ा लिया कि आप पैदल चलने योग्य नहीं हैं, यथा—'*कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥*'

नोट—२ '*पीठि चढ़ाई*' पद देकर जनाया कि हनुमान्‌जी उनको कन्धेपर नहीं लिये हैं वरन् वानररूपसे चारों पैरोंसे पर्वतपर चढ़ेंगे, अतएव पीठपर चढ़ाया है। यह बात (वाल्मी० ४। ३४) से भी सिद्ध है—'**भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः। पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः॥**' अर्थात् भिक्षुक (ब्रह्मचारी) का रूप त्यागकर वानररूप धारण करके 'कपिकुञ्जर' हनुमान्‌जी उन दोनोंको पीठपर बिठाकर ले चले। 'वानररूप', 'कपिकुंजर' और 'पृष्ठमारोप्य' इस भावको पुष्ट कर रहे हैं और यहाँ ग्रन्थकारने भी '*पीठि*' शब्द दिया है। अध्यात्ममें कन्धेपर बैठनेको कहा, ऐसा लिखा है, यथा—'**हनुमान् स्वस्वरूपेण स्थितो राममथाब्रवीत्। आरोहतां मम स्कन्धौ गच्छामः पर्वतोपरि॥**' (स० १। २७) अर्थात् अपना वानर-स्वरूप प्रकट करके श्रीरामजीसे यह बोले कि आप हमारे कंधोंपर चढ़ लें, मैं पर्वतपर आपको लेकर चलता हूँ पर यहाँ गोस्वामीजीका मत पीठपर चढ़ानेकी ओर है।

प्र०—पीठपर चढ़ाया जिसमें सुग्रीव पीठपर चढ़े हुए देखकर इनको मित्र समझे। दूसरे, पर्वत दुर्गम है, स्वामीको पैदल ऊपर चढ़नेमें कष्ट होगा। इससे पीठपर चढ़ाया। (आगे श्रीरामजी हैं, पीछे श्रीलक्ष्मणजी।)

जब सुग्रीव राम कहुँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥ ६॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥ ७॥

अर्थ—जब सुग्रीवजीने श्रीरामचन्द्रजीको देखा तब अपने जन्मको अत्यन्त धन्य माना॥ ६॥ (वे श्रीरामजीके) चरणोंमें माथा नवाकर आदरपूर्वक मिले। श्रीरघुनाथजी भाईसहित उनसे गले लगकर मिले॥ ७॥

प० प० प्र०—'*राम कहुँ देखा*' इति। '*राम*' शब्द मानसमें प्रायः इस भावसे प्रयुक्त हुआ है कि देखनेवालेको रूप-दर्शनसे ऐसा आनन्द हुआ कि वह सब कुछ भूलकर उस रूप-दर्शनमें रम गया। यथा—'*देखि राम मुख पंकज मुनिबर लोचन भृंग। सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥*' (३। ७) (यहाँ भी '*अतिसय जन्म धन्य करि लेखा*' है ही), '*राम बदनु बिलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥*' (३। १०) (सुतीक्ष्णजी), '*राम देखि मुनि देह बिसारी।*' (१। २०७। ५) (विश्वामित्रजी), '*रामहि चितइ रहे थकि लोचन॥*' (१। २६९। ८) (परशुरामजी), इत्यादि। वैसे ही यहाँ भी '*राम कहुँ देखा*' से ही सूचित कर दिया कि सुग्रीवजीको दर्शन पाते ही अतिशय आनन्द हुआ।

टिप्पणी—१ '*जब सुग्रीव राम कहँ देखा*···' इति। (क) '*जब*···*देखा*' पदसे जनाया कि सुग्रीवने दर्शनमात्रसे ही अपनेको धन्य माना; ये बलवान् हैं, हमारे शत्रुको मारकर हमें राज्य देंगे, इत्यादि, किसी प्रयोजनको समझकर नहीं (धन्य माना है)। (ख) '*अतिसय*' का भाव कि श्रीरामजीके दर्शनसे अतिशय

पुण्य है। अतिशय पुण्य होनेसे जन्म भी अतिशय धन्य हुआ। [पुनः भाव कि प्रभुके दर्शनसे सुग्रीवको उनके प्रतापकी प्रतीति हुई, अतः अपनेको अतिशय धन्य माना। (पं०) पूर्व जो पीठपर चढ़ाना कहा गया वह इस चरणसे भी पुष्ट होता है। पीठपर श्रीरामजी आगे हैं, लक्ष्मणजी पीछे, इसीसे सुग्रीवका रामको देखना कहा। यदि अध्यात्मके अनुसार लें तो *'राम कहँ देखा'* का समाधान यह होगा कि श्रीरामजी मुख्य हैं इससे उनका नाम देकर दोनोंको देखना जना दिया है।]

टिप्पणी—२ *'सादर मिलेउ नाइ पद माथा'''* इति। हनुमान्‌जीके वचन *'सो सुग्रीव दास तव अहई'* यहाँ चरितार्थ हैं; दास हैं अतः मस्तक नवाकर दासभावसे सुग्रीव मिले। और *'भेंटेउ अनुजसहित रघुनाथा'* में रामजीकी ओरसे *'तेहि सन नाथ मयत्री कीजै'* ये वचन चरितार्थ हुए। सुग्रीव पैरोंपर मस्तक रखते हैं पर ये उनको मित्रभावसे गले लगाते हैं। ['सादर मिलनेका कारण यह है कि पूर्वकी जो शंकाएँ थीं कि *'पठए बालि', 'होहि मन मैला'* वे सब प्रभुको देखते ही अब जाती रहीं। (रा० प्र०) पुनः, *'सादर'* का भाव कि सुग्रीव फल-फूल दलादि लेकर मिले। (मा० म०)

टिप्पणी—३ ☞*'नाइ पद नाथा'* से जनाया कि दण्डवत् प्रणाम किया। केवल मस्तक झुकाना ही अभिप्रेत होता तो *'पद'* शब्द न देते। यथा—*'बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥'* (४। १। ६) *'पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन।'* (५। ३८), *'नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिय दूता॥'* (५। २४। ७), *'अस कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा।'* (५। १) इत्यादि। *'भेंटेउ'* दोनों अर्थ दे रहा है।

मा० म०—जैसे काशीमें मूल विश्वेश्वर हैं वैसे ही किष्किन्धामें *'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥'* यही बीज है। जैसे विश्वेश्वरद्वारा कर्मज्ञान प्राप्त होकर अन्तमें रामपदकी प्राप्ति होती है वैसे ही इस पदके जपसे कर्म और ज्ञान प्राप्त होता है और अन्तमें स्वयं रामजी बाँह पकड़कर भवपार करते हैं।

कपि कर मन बिचार येहि रीती। करिहहिं बिधि मो सन ए प्रीती॥ ८॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी मनमें इस रीतिसे विचार कर रहे हैं—'हे विधि ! क्या ये मुझसे प्रीति करेंगे।' अर्थात् मैं इनसे प्रीति करनेके योग्य नहीं हूँ, मैं तो दीन हूँ, दूसरे वानर हूँ और ये राजकुमार हैं मनुष्य हैं*॥ ८॥

नोट—१ (क) *'येहि रीती'* अर्थात् उपर्युक्त रीतिसे, जिस रीतिसे मुझसे मिले हैं। मैं तो उनके चरणोंपर पड़ा था पर उन्होंने मुझे सख्यभावसे गलेसे लगाया, दोनों भाई गले लगकर मिले। अतः वे सोचते हैं कि यदि मित्र-भावसे प्रीति करें तो मेरे बड़े भाग्य हैं। (ख) *'कपि कर मन बिचार'''* इति। उधर जो श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे प्रार्थना की थी कि *'तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे॥'* उसीकी स्फूर्ति वा वही मित्रताकी प्रीति करनेका भाव इधर सुग्रीवजीके मनमें उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीके कहनेसे श्रीरामजीके हृदयमें सुग्रीवसे मित्रता करनेकी इच्छा हुई। [श्रीशबरीजीने तो प्रथमसे ही कह रखा था कि *'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥'* अतएव पूर्वसे ही इच्छा थी। हनुमान्‌जीद्वारा उसकी पूर्ति हुई।] श्रीरामजीसे मित्रता करनेकी इच्छा सुग्रीवके हृदयमें अब हुई, अतएव उस

* पंजाबीजी यों भी अर्थ करते हैं—प्रभुके स्नेहकी यह रीति देखकर सुग्रीव मनमें विचार करते हैं कि क्या ये मुझसे विधिपूर्वक प्रीति करेंगे। बाबा हरिहरप्रसादजीने भी लगभग यही अर्थ रखा है—कपि मनमें इस प्रकार विचार करते हैं कि क्या ये मुझसे 'विश्वासार्थ अग्न्यादि-साक्षिविधिसे प्रीति करेंगे ?' ☞ पर यह अर्थ क्लिष्ट है। जान पड़ता है कि 'विधि' सम्बोधन न करना पड़े इस विचारसे ये अर्थ किये गये हैं 'हे विधि', 'हे विधाता', 'हे भगवान्' इत्यादिका प्रयोग ऐसी अवस्थामें करना मनुष्यका सहज स्वभाव है। वैसा ही प्रयोग यहाँ भी है और अन्यत्र भी अनेक स्थानोंपर हुआ है। यथा—'हे बिधि दीनबन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहि दाया॥' (३। १०। ४) (श्रीसुतीक्ष्णजी) यदि ऐसा ही अर्थ करना हो तो 'प्रीति-विधि करिहहिं' अर्थात् प्रीतिका विधान करेंगे, ऐसा अन्वय कम क्लिष्ट होगा पर ठीक अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है।

इच्छाको यहाँ कहते हैं—*'कपि कर मन बिचार·····।'* तात्पर्य कि एकहीकी इच्छासे प्रीति नहीं होती, इसीसे दोनों ओरकी इच्छा वर्णन करते हैं। दोनों ओरसे परस्पर प्रीति न हुई तो वह दृढ़ नहीं रह सकती।

नोट—२ (क) *'करिहहिं बिधि'* से जनाया कि सुग्रीवजी अपनेको उनसे मित्रता करनेके योग्य नहीं समझते, क्योंकि मित्रता समान पुरुषोंमें होती है। वे सोचते हैं कि मैं तो वानर हूँ, ये मनुष्य हैं, मैं भ्रष्टराज्य हूँ, ये राजकुमार हैं; मैं दीन हूँ ये वीर हैं, ये प्रसन्न हैं, मैं भयग्रस्त हूँ, ये घोर वनमें निर्भय फिर रहे हैं, इत्यादि। अतः वे सोचते हैं कि भला ये कब मुझसे मित्रता करने लगे। इसीसे विधाताको मनाते हैं; आप ऐसा विधान रच दीजिये कि ये मुझसे सख्यभावसे मित्रता कर लें। आपके करनेसे ही यह सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं। श्रीसुग्रीवजीकी यह पूर्वाभिलाषा आर्त्तप्रपन्न-भावसे हुई। भाव यह कि यदि ये मेरे सखा हो जायँ तो मैं परम भाग्यवान् हो जाऊँ।—**'तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो।'** (वाल्मी० ४। ५। १०)

नोट—३ इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् जब जीवको अपनानेकी इच्छा करते हैं, तभी जीवमें उनकी ओर झुकने, उनकी शरण होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। वह प्रभुकी प्राप्तिके लिये, उनकी कृपाके लिये अत्यन्त आर्त्त हो जाता है और तब तो श्रीमुखवचन ही है—**'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥'** (वाल्मी० ६। १८। ३)

दो०—तब हनुमंत उभय दिसि की* सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ†॥ ४॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जीने दोनों ओरकी सब कथा सुनाकर अग्निको साक्षी देकर दोनोंमें दृढ़ प्रीति जोड़ दी। अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक दृढ़ प्रीति करा दी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'तब'* अर्थात् जब दोनोंके हृदयमें परस्पर प्रीति करनेकी इच्छा हुई तब। (ख) दोनों तरफकी कथा सुनानेका भाव कि दोनों सब बातें समझकर प्रीति करें जिसमें फिर मित्रतामें बीच न पड़े।

नोट—१ दोनों ओरकी मित्रता कही। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीकी ओरसे बताया कि—ये इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीदशरथमहाराजके पुत्र हैं, पिताकी प्रेरणासे धर्मपालनके लिये वनमें स्त्रीसहित आये। रावणने इनकी स्त्री हर ली, उसीको ढूँढ़ते हुए यहाँ आये हैं। ये सत्यसंध और अजेय हैं। तुम्हें इनकी स्त्रीका पता लगाना होगा।—(वाल्मी० ४। ५। १—७) और सुग्रीवकी ओरकी कथा यह कही कि—सुग्रीवको वालिने राज्यसे निकाल दिया है, उसका राज्य और स्त्री छीन ली और इनसे शत्रुता रखता है जिससे ये भागे-भागे फिरते हैं। सूर्यपुत्र सुग्रीव हमलोगोंके साथ सीताजीका पता लगानेमें अवश्य सहायता करेंगे। आपको इनकी सहायता करनी होगी। आप दोनोंकी समानावस्था है। आप इनका राज्य और स्त्री दिलावें, ये आपकी स्त्रीको खोजें। (वाल्मी० ४। ४। २६—२८) दोनोंने तब अग्निको साक्षी देकर एक-दूसरेकी सहायताकी प्रतिज्ञा की, यह बात वाल्मीकीयके श्रीहनुमान्‌जीके **'त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते'** (४। २९। २२) इन वचनोंसे स्पष्ट सिद्ध है जो उन्होंने सुग्रीवसे कहे हैं। पंजाबीजीका भी यही मत है कि यहाँ प्रभुका कुल और गुण बताये।

टिप्पणी—२ *'पावक साखी देइ·····'* इति। अग्निको साक्षी किया क्योंकि अग्नि धर्मका अधिष्ठान है। जो बीच रखेगा उसके धर्मका नाश होगा, क्योंकि अग्निदेव सबके हृदयकी जानते हैं, यथा—*'तौ कृसानु सब कै गति जाना।'* (६। १०८। ८) अग्निको साक्षी इस तरह दिया कि दोनोंके बीचमें अग्नि जला दी और दोनोंसे भेंट करायी।

नोट—२ वाल्मीकिजी लिखते हैं—**'काष्ठयोः स्वेन रूपेण जनयामास पावकम्। दीप्यमानं ततो वह्निं**

* 'कह'—(का०)। † 'दिढ़ाइ'—(का०)

पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम्॥ तयोर्मध्ये तु सुप्रीतो निदधौ सुसमाहितः। ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्॥ सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ। ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ॥ अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमभिजग्मतुः। त्वं वयस्योऽसि हृद्यो मे एकं दुःखं सुखं च नौ॥' (वाल्मी० ४। ५। १४—१७) अर्थात् हनुमान्‌जीने दो लकड़ियोंको रगड़कर आग प्रकट की। उस जलती हुई अग्निकी उन्होंने पुष्पोंसे पूजा की और सावधान होकर दोनोंके बीचमें वह आग रख दी। दोनोंने उसकी प्रदक्षिणा की। इस प्रकार दोनों मित्र बन गये और दोनों प्रसन्न हुए।…सुग्रीवने प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीसे कहा कि 'आप मेरे मित्र हैं, मेरे हृदयके प्रिय हैं; हम दोनोंका सुख-दुःख समान है।' पुनः, यथा—'ततो हनूमान् प्रज्वाल्य तयोरग्निं समीपतः। तावुभौ रामसुग्रीवावग्नौ साक्षिणि तिष्ठति॥ बाहू प्रसार्य चालिङ्ग्य परस्परमकल्मषौ'…॥'—(अध्यात्म ४। १। ४४-४५) अर्थात् तब हनुमान्‌जीने दोनोंके समीप ही अग्नि जलाकर रख दी। दोनोंने अग्निको साक्षी देकर निष्कपट शुद्ध हृदयसे परस्पर हाथ फैलाकर गलेसे लगकर भेंट की।

टिप्पणी—३ '*जोरी प्रीति दृढ़ाइ*' इति।—दोनों ओरकी कथा सुनानेमें व्यवहारकी सफाई हुई, अब किसी प्रकारसे तर्क न उठेगा और अग्निको साक्षी देकर प्रीति जोड़ी कि यदि हम बीच रखेंगे तो अग्निदेव हमारे धर्मका नाश करेंगे। ('*दृढ़ाइ*' में सुग्रीवके '**गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा**।' (वाल्मी० ४।५।११) का भाव है। आप मेरे हाथको अपने हाथसे पकड़ लें जिसमें न टूटनेवाली मित्रता हो जाय।) अग्निको साक्षी देनेके अनेक भाव लोगोंने कहे हैं—

१—प्रीति करनेके समय अग्नि आदिकी साक्षी देनेकी परम्परा है। सहस्रार्जुन और रावणमें पुलस्त्यजीने मित्रता करायी तथा वालि और रावणकी मित्रतामें भी अग्निकी साक्षी दी गयी थी। यथा—'**अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ**।' (वाल्मी० ७। ३३। १८), '**ततः प्रज्वालयित्वाग्निं तावुभौ हरिराक्षसौ**।' (७।३४।४२)

२—अग्नि सबके हृदयमें बसता है, यथा—'*तौ कृसानु सब कै गति जाना।*' (६। १०८। ८) हृदयमें बसनेसे सबके हृदयकी बात जानते हैं। फिर ये वचन देवताके हैं और मित्रता भी वचनद्वारा की जा रही है। अतः प्रतिज्ञा भंग करनेवालेको दण्ड देंगे। (शीला)

३—पावक, सूर्य और तपस्वी तीनोंमें एकता है, तीनों तेजस्वी हैं। अग्नि और सूर्यका तेज प्रकट ही है और '*बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा*' यह तपस्वीका तेजस्वी होना सिद्ध है। सूर्यपुत्र सुग्रीव हैं, तपस्वी रामजी हैं। अतः दोनोंकी प्रीतिकी दृढ़ताके लिये तीसरे तेजोमय पुरुषकी साक्षी दी—(शीला)।

४—सूर्यको साक्षी न दिया क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सूर्यवंशके हैं और सुग्रीव सूर्यके अंशसे हैं। (रा० प्र० श०)

५—अग्निको ही साक्षी दिया, क्योंकि इस लीलामें अग्नि ही कारण है—जानकीजीको अग्निमें सौंपा है, अग्निसे लंकादहन करेंगे और अन्तमें अग्निदेव ही जानकीजीको देंगे। यहाँ यह प्रीति भी श्रीजानकीजीके लिये ही जोड़ी जा रही है। अतः यहाँ भी अग्निको साक्षी दिया। (करु०) (नोट—इसमें यह भी बढ़ा सकते हैं कि श्रीरामजन्म अतएव श्रीरामचरितके आदिकारण भी अग्निदेव ही हैं। इन्होंने हवि दिया जिससे चारों पुत्र हुए। इस तरह चरितके आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें अग्निदेवकी प्रधानता प्रत्यक्ष है।)

६—अग्नि शिवका रूप है। अतएव शिवकी साक्षी भी हो गयी और साक्षीकी यही परिपाटी है। (मा० म०)

७—अन्य देवताओंसे अधिक सहायता इस चरितभरमें अग्निदेवकी ही हुई, इसीसे यहाँ भी वही साक्षी हुए।

कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाषा॥ १॥

शब्दार्थ—बीच रखना=भेद रखना, दुराव रखना, पराया समझना। यह मुहावरा है।

अर्थ—दोनोंने प्रीति की, कुछ भी अन्तर न रखा। तब श्रीलक्ष्मणजीने सब रामचरित कहा॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) '*बीच न राखा*' का भाव कि बीच रखनेसे प्रीतिका नाश होता है। रामचरित्र कहनेका भाव यह है कि जिसमें श्रीरामजीका पुरुषार्थ सुनकर सुग्रीव श्रीरामजीको सामान्य न समझें, सामान्य समझनेसे प्रीति घट जाती है जिससे मित्र-धर्मकी हानि होती है। (ख) सब चरित कहनेका भाव कि

हनुमान्‌जीने दोनों ओरकी कथा संक्षेपसे कही है इस प्रकारकी 'श्रीरामजीकी स्त्रीका हरण हुआ है, तुम खोज कराओ और तुम्हारी स्त्रीका हरण हुआ है, श्रीरामजी तुम्हारे शत्रुको मारकर तुमको सुखी करेंगे। आप दोनों परस्पर मित्रता करें।' हनुमान्‌जीने इतना ही कहा। उन्होंने श्रीरामजीका जन्म, कर्म और प्रताप नहीं कहा। लक्ष्मणजीने ये सब चरित भी कहे। (ग) लक्ष्मणजीके कहनेका भाव कि श्रीरामजी अपने मुखसे अपना प्रताप और पुरुषार्थ नहीं कह सकते। अथवा, श्रीसुग्रीवकी कथा हनुमान्‌जीने कही और श्रीरामजीका चरित्र लक्ष्मणजीने कहा। (घ) प्रीति होनेके पीछे रामचरित कहनेका भाव कि नीतिका मत है कि जब निष्कपट प्रीति हो जाय तब अपनी गुप्त बात कहे—(पं०)। यथा—'**ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥**' (भर्तृहरिशतक) अर्थात् दे और ले, अपनी गुप्त बात कहे उसकी पूछे, आप मित्रके यहाँ भोजन करे और मित्रको अपने यहाँ भोजन करावे—मित्रताके ये छः प्रकारके चिह्न हैं। [उपर्युक्त श्लोकमें प्रीतिके गुण कहे हैं और प्रीतिका स्वरूप यह है—'**अत्यन्तभोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। परिपूर्णस्वरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा॥**' अर्थात्—स्वरूपमें पूर्ण अनुकूलता आदि गुणवाली, जो (स्वविषयक) अत्यन्त भोग्यता (मेरा सब कुछ इनके अर्पित है ऐसी) बुद्धि है, वही सबसे श्रेष्ठ (इष्टदेवादिविषयक) प्रीति है। अन्य प्रकारकी प्रीति निकृष्ट प्रीति है (वै०)।]

शीला—हनुमान्‌जीने तो कहा ही था, अब लक्ष्मणजीने क्यों कहा ? इसका उत्तर कविने '*कथा*' और '*चरित*' इन्हीं दोनों शब्दोंमें दे दिया है। हनुमान्‌जीने कथा कही। कथा शब्द स्त्रीलिङ्ग है, वह स्त्री-सम्बन्धी कथाका कहना सूचित करता है। अर्थात् हनुमान्‌जीने सीताहरण और सीता-वियोग-जनित राम-विरहवाली दुःखमयी कथा सुग्रीवसे और सुग्रीवका प्रियाविहीन वनवास रामजीसे कहा। लक्ष्मणजीने 'चरित्र' कहा। चरित पुँल्लिङ्ग है, पुरुषार्थवाचक है, जैसा अरण्यकाण्डके प्रारम्भमें कहा है—'*अब प्रभुचरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि-भावन*'। वही एवं वैसे ही पुरुषार्थ-सूचक चरित लक्ष्मणजीने कहे—ताड़का, सुबाहु, मारीच, कबन्ध, विराध और खर-दूषणादिके वध कहे जो हनुमान्‌जीको अभी मालूम न थे।*

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी॥ २॥

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर सुग्रीवजीने कहा। 'हे नाथ ! मिथिलेशकुमारी मिलेंगी'॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) '*नयन भरि बारी*' इति। ऊपर जो कहा है कि '*जोरी प्रीति दृढ़ाइ*' और '*कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा*', उसको '*नयन भरि बारी*' से चरितार्थ करते हैं। श्रीसुग्रीवजीका प्रेम निष्कपट है, शुद्ध है, स्वार्थका नहीं है; वे श्रीलक्ष्मणजीसे चरित सुनकर मित्रका दुःख सुनकर उनके दुःखसे दुःखी हो गये इसीसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया है। क्योंकि '*जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।*' (४। ७। १) [नेत्रोंमें जल भर आनेका कारण यह भी हो सकता है कि रघुनाथजीके स्त्रीवियोगको देखकर उन्हें अपनी स्त्रीके वियोगका स्मरण हो आया और यह समझकर उनको कष्ट हुआ कि इनको भी हमारे ही समान बहुत दुःख है। सुग्रीव स्त्रीवियोगके दुःखको भलीभाँति जानते हैं, क्योंकि उनपर भी यह आपदा पड़ चुकी है। इसीसे मित्रके दुःखसे वे दुःखी हो गये। अपने दुःखको भूल गये। (पं०) इससे सुग्रीवजीमें '*निज दुख गिरि सम रज कर जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना।*' (४। ७। २) यह मित्रलक्षण चरितार्थ किया]। (ख) '*मिलिहि*' अर्थात् अवश्य मिलेंगी। ऐसा सुग्रीवने कैसे कहा ? उत्तर—उनको इससे पूर्ण विश्वास है कि सीताजीने हमको देखकर अपनी निशानी डाल दी थी और अब श्रीरामचन्द्रजी भी आपसे ही हमको आ मिले, इससे निश्चय है कि आगेका कार्य अवश्य होगा। (ग) सुग्रीवने 'मिथिलेशकुमारी' को कैसे जाना ? उत्तर—लक्ष्मणजीने सब रामचरित कहा, उसीमें धनुर्भङ्गके सम्बन्धमें मिथिलेशजीके यहाँ पराक्रम-शुल्क-स्वयंवरका होना और उनकी कन्याका नाम कहा। इस तरह मिथिलेशकुमारीका नाम आया

* प्र०१— दूसरा अर्थ यह है कि हनुमान्‌जीने लक्ष्मण और राम दोनोंका चरित सब कहा। २—लक्ष्मणजीके कहनेमें भाव यह है कि विरहादिके कथनमें लक्ष्मणजी ही योग्य हैं। 'सब' अर्थात् वनगमन, जानकीहरण आदि सम्पूर्ण चरित।

इसीसे जाना।—[नोट—वाल्मी० ४। ६ में सुग्रीवने कहा है कि हनुमान्‌जीने हमसे कहा है कि आपकी स्त्री मैथिली जनकात्मजाको राक्षसने हर लिया है।—'**हनुमान् यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः॥ ४॥ ''''रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा॥ ३॥**' और अध्यात्ममें लक्ष्मणजीसे सब रामचरित सुनकर तब सुग्रीवका कथन है, यथा—'**लक्ष्मणस्त्वब्रवीत् सर्वं रामवृत्तान्तमादितः। वनवासाभिगमनं सीताहरणमेव च॥ ३४॥ लक्ष्मणोक्तं वचः श्रुत्वा सुग्रीवो राममब्रवीत्।**' (सर्ग १) दोनों मतोंकी रक्षा यहाँ कविने कर दी। श्रीहनुमान्‌जी भी जानते ही हैं, यथा—'*इहाँ हरी निसिचर बैदेही*' (यह श्रीरामजीने बताया था), '*सो सीताकर खोज कराइहि*' (यह हनुमान्‌जीके वचन हैं।) अतः हनुमान्‌जीसे भी 'उभय दिसिकी कथा' में नाम सुना हो, यह भी सम्भव है।]

नोट—१ '*मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी*'। मिथिलेशकुमारीका नाम यहाँ साभिप्राय है, अर्थानुकूल है। मिथिलेश नाम इससे हुआ कि राजा निमिके शरीरके मथन करनेसे इस कुलके आदिपुरुष उत्पन्न हुए थे। ये उनकी कुमारी हैं। अतः इनके लिये बहुत मन्थन करना पड़ेगा। पुनः इनके लिये हम पृथ्वीभर मथ डालेंगे, कोई स्थान बिना देखे न रहने देंगे और दुष्टोंका मान मथकर हम श्रीजानकीजीको लावेंगे।(मा० म०, पां०, रा० प्र० श०) प्र० स्वामीका मत है कि अवधेश और मिथिलेश '*पुण्यपयोनिधि भूप दोउ*' हैं, यह विश्रुत है। अतः 'मिथिलेशकुमारी' में भाव यह है कि मिथिलेश-ऐसे पुण्यात्माकी कन्या न मिले यह कैसे सम्भव है, उनके पुण्यप्रभावसे वे अवश्य मिलेंगी।

मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥ ३॥
गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ ४॥

अर्थ—यहाँ एक बार मैं मन्त्रियोंसहित बैठा हुआ (कुछ) विचार कर रहा था॥ ३॥ उसी समय पराये वा शत्रुके वशमें पड़ी हुई बहुत विलाप करती आकाशमार्गसे जाती हुई (मिथिलेशकुमारीको) मैंने देखा॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा······*' इति। (क) '*इहाँ*' कहकर देश निश्चित किया कि इसी स्थानसे हमने देखा है, नहीं तो श्रीरामजी पूछते कि तुमने सीताजीको कहाँ देखा। देश कहकर फिर काल कहा पर कालका नियम नहीं करते, 'एक बार' कहते हैं। इससे जनाया कि दिनका स्मरण हमको नहीं है। काल कहकर आगे वस्तु कहेंगे, यथा—'*हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी।*' वस्त्र वस्तु है। इस प्रकार यहाँ देश, काल और वस्तु तीनों कहे। [(ख) '*करत बिचारा*' इति। क्या विचार कर रहे थे ? यही कि हमारी सारी आयु ही बीती जाती है, न जाने भगवान् मुझे फिर स्त्री, राज्य आदिका सुख देंगे। न जाने वालिके भयसे कभी प्रभु मुझे मुक्त करेंगे। क्या उपाय करें ? इत्यादि। (मा० त० प्र०)]

टिप्पणी—२ '*परबस परी बहुत बिलपाता*' इति। '*पर*' शब्दके चार अर्थ हैं—दूर, अन्य, शत्रु और परमात्मा। यहाँ अन्य और शत्रु दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—'**परो दूरान्यवाची स्यात् परोऽरिपरमात्मनोः।**' (वैजयन्तीकोश) ['*परबस परी बहुत बिलपाता*', यथा—'*लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥*' (३।३१।३) '*बहुत बिलपाता*' का वही भाव है जो (३।३१।३) में कहा गया है।]

नोट—१ इनका समानार्थी श्लोक अध्यात्ममें यह है—'**एकदा मन्त्रिभिः सार्द्धं स्थितोऽहं गिरिमूर्द्धनि। विहायसा नीयमानां केनचित् प्रमदोत्तमाम्॥**' (४। १। ३७) अर्थात् एक बार मन्त्रियोंसहित मैं पर्वत-शिखर पर बैठा था, उसी समय एक पुरुष एक उत्तम स्त्रीको आकाशमार्गसे लिये जाते हुए मैंने देखा।

नोट—२ नल, नील, जाम्बवान् और हनुमान्‌जी ये चार मन्त्री हैं।

राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी॥ ५॥
मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥ ६॥

अर्थ—हमको देखकर राम! राम ! हा राम ! पुकारकर उन्होंने अपना वस्त्र गिरा दिया॥ ५॥ श्रीरामजीने उसे तुरन्त माँगा और सुग्रीवने तुरन्त ही (ला) दिया। वस्त्रको छातीसे लगाकर रामचन्द्रजीने अत्यन्त सोच किया॥ ६॥

टिप्पणी—१ राम-राम कहकर पट डालनेका तात्पर्य यह था कि वानर जान जायँ कि ये श्रीरामजीकी स्त्री हैं, वे श्रीरामजीसे हमारा हाल कहें और उनको हमारा वस्त्र दें। इसीसे पतिका नाम लिया, नहीं तो पतिका नाम न लेना चाहिये। पुकारकर कहनेका भाव कि विमान बहुत ऊँचेसे जा रहा था; पुकारकर न कहतीं तो वानर न सुन पाते।

नोट—१ यहाँ यह समझकर कि सीताजी पतिका नाम कैसे लेंगी, मयङ्ककार एवं करुणासिन्धुजीने *'राम राम हा राम पुकारी'* का अर्थ यों किया है कि 'श्रीजानकीजीका दु:खमय विलाप सुनकर मैंने राम ! हा राम! ऐसा पुकारा, (उच्चारण किया)। तब यह समझकर कि ये कोई रामभक्त हैं, हमारी ओर देखकर उन्होंने वस्त्र गिरा दिया। ऐसा अर्थ करनेके लिये *'सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम',* इसका प्रमाण दिया जाता है। पाँड़ेजीने दोनों अर्थ दिये हैं। बैजनाथजीने भी इसी अर्थको ग्रहण किया है। पर वाल्मीकि और अध्यात्म आदि रामायणोंसे यही सिद्ध होता है कि 'राम ! राम ! हा राम !' ऐसा कहकर श्रीजानकीजी विलाप करती चली जाती थीं। सुग्रीवने भी यही कहा और सम्पातीने भी वानरोंसे यही बात कही कि वह राम ! राम ! लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! चिल्लाती जाती थीं। यथा वाल्मीकीय—'**क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्**' (सर्ग ६। १०), '**क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी। भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती॥**' (सर्ग ५८।१६) और '**तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात्।**' (५८। १८)

अर्थात् राम, राम, लक्ष्मण, लक्ष्मण चिल्लाती थीं और आभूषणोंको फेंकती एवं अङ्गोंको पटकती थीं। उसे सीता इससे समझता हूँ कि वह राम-राम पुकारती थी। ऐसा ही हनुमन्नाटकमें भी कहा है। यथा—'**पापेनाकृष्यमाणा रजनिचरवरेणाम्बरेण व्रजन्ती किष्किन्धाद्रौ मुमोच प्रचुरमणिगणैर्भूषणान्यर्जितानि। हा राम प्राणनाथेत्यहह जहि रिपुं लक्ष्मणेनालपन्ती यानीमानीति** तानि क्षिपति रघुपुरः कापि रामाञ्जनेयः॥' (अङ्क ५ श्लो० ३७) अर्थात् राक्षसोंमें श्रेष्ठ पापी रावणसे ग्रहण की हुई; 'हा राम ! हा प्राणनाथ ! अहह इस शत्रुको जीतो' इस प्रकार कहते आकाशमार्गसे जाती हुई अनेक मणिगणयुक्त जिन आभूषणोंको किष्किन्धापर्वतपर डाल दिया था, वे ही आभूषण पवनकुमार हनुमान्जीने रामजीके अग्रभागमें रख दिये।

ये सब प्रमाण उस अर्थके पोषक हैं जो ऊपर दिया गया है और यही अर्थ ठीक जँचनेका एक कारण तो सम्पातीहीके वचनोंमें मिलता है कि इसी नामके पुकारनेसे मैं उन्हें श्रीरामजीकी स्त्री समझता हूँ। इस विषयमें अरण्यकाण्ड दोहा २९ (२५) और २९ में भी लिखा जा चुका है; वहाँ देखिये।

गौड़जी—एक तो यह मायाकी सीता हैं। इन्हें नाम लेनेमें कोई हर्ज भी नहीं है। दूसरे आपद्ग्रस्ता पत्नी रक्षार्थ पतिका नाम न ले, विशेषत: जब कि और कोई उपाय नहीं है तो करे क्या ? अत: आपद्धर्मके लिये ज्येष्ठ पुत्र, अपना, गुरुका, पति वा पत्नीका नाम न लेनेवाला नियम बाधक नहीं हो सकता।

स्मृतिका श्लोक यह है जिसके प्रमाणसे नाम लेनेका निषेध है। '**आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयो:॥**' इसमें 'श्रेय चाहनेवाला' नाम न ले ऐसा आदेश है। यह उक्ति साधारण दशाके लिये है। यहाँ सीताजीकी आपद्ग्रस्त दशा है।

क्षीरस्वामीने अमरकोशीकी टीकामें भी लिखा है। '**किमाह सीता दशवक्त्रनीता** हा राम ! हा **देवर ! तात ! मात: !**'

नोट—२ 'तीन बार राम ! राम ! हा राम !' कहकर जनाया कि ऐसे ही बराबर कहती रहीं। तीनसे बहुत बार जनाया। पंजाबीजीने अनेक भाव कहे हैं पर क्लिष्ट कल्पना समझकर यहाँ वे भाव उद्धृत नहीं किये गये।

वि० त्रि०—रावणने ऐसी चालाकीसे सीताहरण किया था, जिसमें श्रीरामजीको पता न चल सके कि

सीता हुई क्या ? और आकाशमार्गसे इतने ऊँचेसे ले जाता था कि पर्वतपर बैठे हुए बंदरोंने इतना ही देख पाया कि आकाशमार्गसे कोई स्त्री लिये चला जा रहा है। ऐसी परिस्थितिमें रामजीको अपना पता देनेके लिये जो कुछ किया जा सकता है, सो सब जगदम्बाने किया। रावण भी समझ न सका कि क्या हो रहा है। जगदम्बाने अपना चिह्न कपड़ा ही नहीं फेंका, क्योंकि इतने ऊपरसे फेंका हुआ कपड़ा नीचे लक्ष्य स्थानपर पहुँच नहीं सकता, अतः उसमें केयूर, नूपुर और कुण्डल बाँधकर फेंका। कोई रास्तेमें नहीं मिला तो बंदरोंमें फेंक दिया। सम्भव है कि खोजते-खोजते श्रीरामजीके हाथ लग जाय तो इतना पता तो उन्हें लग जायगा कि सीता जीती है; और अमुक दिशाको हरण करनेवाला ले गया है। देखा कि बंदर आपसमें विचार कर रहे हैं, मुझे नहीं देख रहे हैं, अतः तीन बार पुकार-पुकारकर सरकारका नाम लिया और कपड़ेको उनके बीचमें फेंका। तीन बारके पुकारनेमें जो कहना था, सो सब कुछ कह दिया। पहिली बार 'राम' ऐसा पुकारा, उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षण करनेके लिये। दूसरी बार पुकारनेका भाव यह है कि इसे रामको देना। तीसरी बार 'हा राम' पुकारनेका भाव यह है कि मैं रामको चाहती हूँ, मैं बलपूर्वक हरण की जा रही हूँ। श्रीगोस्वामीजी बार-बार पट कहते हैं, भूषणका नाम नहीं लेते। भाव यह कि सुग्रीवजी ***'धन पराव बिष ते बिष भारी'*** समझते हैं। उन्होंने पटको खोलकर देखा भी नहीं कि इसमें क्या बँधा है। उसे रामजीके लिये धरोहर समझकर, गुफामें रख दिया और कहते हैं कि ***'मम दिसि देखि दीन्ह पट डारी।'*** जगदम्बाका उपाय अमोघ है, उस पटके पानेपर ही यथार्थरूपसे सीतान्वेषण आरम्भ हुआ।

ऐसी अवस्थामें पड़ी हुई स्त्री यदि पतिका नाम न ले तो सदाके लिये पतिसे हाथ धोवे। पतिके नाम न लेनेका नियम सामान्य है, विशेष अवसरके लिये यह नियम लागू नहीं है। गुरुदेवका भी नाम नहीं लिया जाता पर पिण्ड देनेके समय तो नाम लेना ही पड़ता है। ऐसे विशेष अवसरोंपर सामान्य नियमपर हठ करना भारी चूक है।

नोट—३ प० प० प्र० स्वामी मयङ्ककारसे सहमत होते हुए लिखते हैं—(१) 'मानसकी सीताने अन्यत्र एक भी समय 'राम' शब्दका उच्चारण नहीं किया। रावणके साथ सम्भाषणके समय ***'रघुबीर बान की', 'प्रभु भुज', 'रघुपति बिरह'*** का, हनुमान्‌जीसे सम्भाषण करनेमें ***'रघुराई', 'रघुनायक'*** आदिका लंकाकाण्डमें त्रिजटासंवादमें ***'रघुपति सर', 'हरिपद', 'रघुपति बिरह', 'कृपाल रघुबीरा'*** का, अग्निदिव्यके समय ***'सुमिरि प्रभु', 'तजि रघुबीर आन गति नाहीं'*** शब्दोंका प्रयोग किया है, 'राम' शब्दका नहीं। (२) केवल वाल्मीकीयके आधारपर यह मान लेना कि श्रीसीताजीने ही ***'राम राम हा राम'*** पुकारा ठीक नहीं; कारण कि वाल्मीकीयमें तो उपर्युक्त सभी प्रसंगोंमें सीताजीने श्री 'राम' शब्दका उच्चारण अनेक बार किया है। (३) ***'गिरिपर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरिनाम दीन्ह पट डारी'*** से भी विसंगति होती है। (४) श्रुतिसेतु संरक्षणकी दक्षता मानसके समान अन्य रामायणोंमें नहीं है।

मेरी समझमें (१) में जो उदाहरण दिये हैं वे कोई इस प्रसङ्गमें लागू नहीं हैं, क्योंकि वे कोई प्रसङ्ग ऐसे नहीं हैं जिनमें अपना परिचय देना आवश्यक आ पड़ा हो कि मैं किसकी भार्या हूँ, किसको मेरे हरणका समाचार दिया जाय। वाल्मी० रा०, अ० रा०, ह० ना० आदि प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इस प्रसङ्गमें 'राम' का उच्चारण पाया जाता है, तथापि इनको न भी लें तो भी हानि नहीं। आपत्ति-समय पतिके नामके उच्चारणसे श्रुतिसेतु भी रक्षित है। श्रीहनुमानप्रसादपोद्दारजी, श्रीनंगेपरमहंसजी तथा श्रीविजयानन्दत्रिपाठीजी मेरे मतसे सहमत हैं।'***हरि नाम***'=हरिका नाम=राम।

टिप्पणी—२ ***'मागा राम तुरत तेहि दीन्हा'*** इति। यहाँ 'तुरत' दीपदेहरी है। श्रीरामजीने शीघ्र माँगा, यथा—'**तमब्रवीत् ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्। आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलंबसे।**' (वाल्मी० ४।६।१३) अर्थात् प्रिय संदेश देनेवाले सुग्रीवसे श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे सखे ! शीघ्र लाओ, किसलिये बहुत विलम्ब कर रहे हो। और सुग्रीवजी तुरत लाये, यथा—'**एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम्। प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया॥ उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च। इदं पश्येति रामाय दर्शयामास**

वानरः॥' (१४-१५) अर्थात् ऐसा कहनेपर सुग्रीवने पर्वतकी छिपी हुई कंदरामें तुरत प्रवेश किया और 'वस्त्र और आभूषण देखिये' ऐसा कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीको उन्होंने ला दिखाया।

नोट—४ मिलानके श्लोक ये हैं—'**क्रोशन्तीं रामरामेति दृष्ट्वास्मान् पर्वतोपरि। आमुच्याभरणान्याशु स्वोत्तरीयेण भामिनी॥**"'**नीताहं भूषणान्याशु गुहायामक्षिपं प्रभो॥**""**हृदि निक्षिप्य तत्सर्वं रुरोद प्राकृतो यथा॥**' (अध्यात्म स० १। ३८-३९, ४१) अर्थात् '*राम राम*' कहकर विलाप कर रही थी। हमको पर्वतपर देखकर अपने आभूषण उतार वस्त्रमें बाँधकर हमारी तरफ देखकर वस्त्र गिरा दिये। मैंने उन्हें गुहामें रखा है। श्रीरामजीने उसे हृदयसे लगा लिया और प्राकृत मनुष्योंकी तरह रोने लगे। अ० रा० में माँगना नहीं कहा, सुग्रीव स्वयं ले आये हैं। (वाल्मी० ४। ६) में '*राम राम लक्ष्मण*' कहकर विलाप करना कहा है—'**क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्।**' (१०), पर उसमें माँगना भी कहा है—'**आनयस्व सखे शीघ्रम्।**' (१३) ऐसा कहनेपर वे शीघ्र ले आये।

टिप्पणी—३ '*सोच अति कीन्हा*' इति। भाव कि सोच तो प्रथम ही करते रहे, अब प्रियाका चिह्न पानेपर सोच बहुत अधिक हो गया अर्थात् रोने लगे। यथा—'**विमुच्य रामस्तद्दृष्ट्वा हा सीतेति मुहुर्मुहुः।**' (अध्यात्म० ४। १। ४१) अर्थात् बारंबार 'हा सीते ! हा सीते !' ऐसा कहकर रोने लगे। यहाँ विप्रलम्भका उद्दीपन है, यथा—'*सुधि आवत जिनके लखे ते उद्दीप बखान।*' वाल्मी० रा० में भी कहा है '**अभवद् बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमा।** (४। ६। १६) **सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः। हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत्क्षितौ।**' (१७) अर्थात् अश्रुओंसे उनका मुख छिप गया जैसे कुहरेसे चन्द्रमा। श्रीसीताजीके स्नेहसे निकले हुए आँसुओंसे वे भीग गये, धैर्य जाता रहा और वे 'हा प्रिये !' कहकर रोते हुए, पृथ्वीपर गिर पड़े।

नोट—५ '*सोच अति कीन्हा*' इति। गीतावली (४। १) में जो कहा है—'*भूषन बसन बिलोकत सिय के। प्रेम बिबस मन पुलकित तनु नीरजनयन नीर भरे पिय के॥ सकुचत कहत सुमिरि उर उमगत सील सनेह सुगुनगन तिय के। स्वामि दसा लखि लखन सखा कपि पघिले हैं आँच माठ मानो घिय के॥ सोचत हानि मानि मन गुनि गुनि गये निघटि फल सकल सुकियके। बरने जामवंत तेहि अवसर बचन बिबेक बीररस बिय के। धीर बीर सुनि समुझि परसपर बल उपाय उघटत निज हिय के। तुलसिदास यह समउ कहे तें कबि लागत निपट निठुर जड़ जिय के॥*' यह सब भाव '*सोच अति कीन्हा*' से जना दिया गया। प्रभु ऐसे विह्वल हो गये कि उन्हें समझाना पड़ा। यही बात आगे कहते हैं।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥ ७॥
सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥ ८॥

अर्थ—सुग्रीवजीने कहा—'हे रघुवीर! सुनिये। सोचका त्याग कीजिये और मनमें धीरज लाइये (धारण कीजिये)॥ ७॥ मैं सब प्रकार आपकी सेवा करूँगा जिस प्रकारसे श्रीजानकीजी आकर आपको मिलें॥ ८॥

नोट—१ 'रघुबीर' और '*तजहु सोक मन आनहु धीरा*' में वे सब भाव गृहीत हैं जो वाल्मी० (४। ७। १३) में कहे हैं—इस दैन्यका त्याग कीजिये, अपने धैर्यका स्मरण कीजिये, आप-सदृश पुरुषोंको ऐसी क्षुद्रबुद्धिका कार्य उचित नहीं। मुझे भी पत्नी-विरहका महान् शोक है, फिर भी मैंने धीरताका त्याग नहीं किया, न ऐसा शोक करता हूँ। फिर आप-सदृश महात्मा, धीर, शिक्षितकी तो बात ही क्या है! अपने अश्रुओंको अपनी धीरतासे रोकिये, सत्पुरुषोंद्वारा बाँधी हुई धीरताका त्याग आप न करें। व्यसनमें कष्ट, गरीबी, भय एवं जीवन-संकट उपस्थित होनेपर जो धीरतापूर्वक बुद्धिसे काम लेते हैं वे दुःखी नहीं होते।"जो शोक करते हैं उन्हें सुख नहीं होता, उनका तेज नष्ट हो जाता है। अतएव आपको शोक न करना चाहिये। जो शोकके अधीन हो जाते हैं उनका जीवन संशयमें पड़ जाता है। अतएव आप शोक छोड़ें और धैर्य धारण करें। यथा—'**अलं वैक्लव्यमालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर। त्वद्विधानां न सदृशमीदृशं बुद्धिलाघवम्॥** ""**महात्मा च विनीतश्च किं पुनर्धृतिमान्महान्॥ बाष्पमापतितं धैर्यान्निगृहीतुं त्वमर्हसि। मर्यादां सत्त्वयुक्तानां**

धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि॥ व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे। विमृशंश्च स्वयाबुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति॥ ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम्। तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि॥ शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः। स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम्॥' (७। ५—१३) वाल्मी० सर्ग ६ में जो कहा है कि '**तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा। त्यज शोकं**""॥' (८) हे महाबाहो! आपकी भार्या विष मिले अन्नके समान है, उसे कोई पचा नहीं सकता। अतः आप शोक छोड़ें।—यह भी इसीमें आ गया।

पुनः, भाव कि रघुवंशी सभी वीर होते हैं, यथा—'*रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥*' (१। २५३। १) '*कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।*' (१। २८४। ४) और आप तो उस कुलमें वीरशिरोमणि हैं, आपको तो कादरकी तरह शोच न करना चाहिये वरन् पुरुषार्थका भरोसा रखना चाहिये। पुनः तात्पर्य यह कि सोच वीररसका नाश करनेवाला है, इससे उसका त्याग जरूरी है और धैर्य वीररसका बढ़ानेवाला है, अतएव धैर्य धारण करना उचित है, इसीसे शत्रुका पराजय कर सकेंगे।

टिप्पणी—१ '*सुनहु रघुबीरा*' इति। '*रघुबीर*' सम्बोधनका भाव कि आप वीर हैं, वीर होकर शोच करना और अधीर होना अयोग्य है; अतएव आपको शोच न करना चाहिये और न अधीर होना चाहिये। शोचके रहनेसे धीरज नहीं आता; इसीसे प्रथम शोचको त्याग करनेको कहा, तब धीरज लानेको।

टिप्पणी—२ '*सब प्रकार करिहौं सेवकाई*' इति। (क) सब प्रकारकी सेवा अर्थात् श्रीसीताजीका पता लगाना, पता मिलनेपर शत्रुसे लड़ना और श्रीजानकीजीको ले आना, इत्यादि। (ख) '*सेवकाई*' करनेको कहते हैं, सहायता करनेका नहीं कहते, क्योंकि सुग्रीव दास हैं। दास सेवा करते हैं और मित्र एवं बड़े सहायता करते हैं। सुग्रीव अपनेको बराबरका या बड़ा नहीं मानते। (ग) '*जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई*' इति। '*आई*' का भाव कि आपको कहीं जाना न पड़ेगा, मैं आपके शत्रुको मारकर श्रीसीताजीको आपके पास ले आऊँगा। ☞सुग्रीवने अपना दुःख भुलाकर श्रीरामजीको धीरज दिया और सेवा करनेकी प्रतिज्ञा की; इसी प्रकार रघुनाथजी अपना दुःख भुलाकर सुग्रीवके दुःखका कारण आगे पूछते हैं—'*तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।*' (वि० १६४)

नोट—२ '*सब प्रकार करिहौं सेवकाई*"' इति। वाल्मी० स० ६ में '**अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव॥ रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले। अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिन्दम॥ इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव। न शक्या सा जरयितुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः॥**"**तां कान्तामानयामि ते॥**' (५—८) 'मैं राक्षसोंके द्वारा हरी गयी वेदवाणीके समान उन्हें लौटा लाऊँगा। चाहे वे पातालमें हों या आकाशमें, मैं उन्हें ले आऊँगा। आप मेरे इस वचनको सत्य समझें। इन्द्रादि देवता तथा राक्षस कोई भी आपकी स्त्रीको छिपा नहीं सकता।' जो यह कहा है और अध्यात्ममें '**सुग्रीवोऽप्याह हे राम प्रतिज्ञां करवाणि ते। समरे रावणं हत्वा तव दास्यामि जानकीम्॥**' (स० १। ४३), अर्थात् सुग्रीव भी बोले कि 'हे राम! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि रावणको समरमें मारकर जानकीजीको आपसे मिला दूँगा।' यह कहा है तथा वाल्मी० (४। ७। ३-४) में '**सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिन्दम। करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम्॥ रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम्। तथास्मि कर्ता न चिराद्यथा प्रीतो भविष्यसि॥**' अर्थात् मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि आप मैथिलीजीको पावें। मैं रावणको सेनासहित मारकर अपने पुरुषार्थको संतुष्टकर वह करूँगा जिससे आप प्रसन्न हों। यह जो कहा है वह सब इस अर्धालीसे जना दिया। '*करिहौं*' से प्रतिज्ञा जना दी।

दो०—सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव।
कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव॥५॥

अर्थ—दयाके सागर और बलकी मर्यादा श्रीरामजी मित्रके वचन सुनकर प्रसन्न हुए, (और बोले) हे सुग्रीव! तुम किस कारण वनमें रहते हो, मुझसे कहो॥५॥

टिप्पणी—१ '*सखा बचन सुनि हरषे*' इति। भाव कि जैसा कुछ सखाका धर्म है वैसा ही सुग्रीवने

कहा है। यथा—'**कर्तव्यं यद्वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च। अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत्त्वया॥**' अर्थात् हे सुग्रीव! तुमने वही किया जो स्नेही और हितैषी मित्रका कर्तव्य है। (वाल्मी० ४।७।१७) मित्रके दुःखको देखकर उसकी अपने पुरुषार्थभर सहायता करना, उसके दुःखको दूर करनेका उपाय करना, दुःखमें विशेष स्नेह करना, यही सखा वा मित्रका लक्षण है। यथा—'*बल अनुमान सदा हित करई। बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥*' (४।७।५-६) (ख) कृपासिंधु हैं, अतएव सुग्रीवपर बड़ी कृपा कर रहे हैं और बलसींव हैं, अतएव उसके शत्रुको मारेंगे। (ग) '*कारन कवन बसहु बन*·····' इति। वनमें बसनेका कारण तो हनुमान्‌जी कह ही चुके हैं, यथा—'*येहि बिधि सकल कथा समुझाई।*' फिर यहाँ श्रीरामजी सुग्रीवजीसे क्यों पूछते हैं? सुग्रीवके मुखसे कहलानेमें कारण यह है कि जब वह स्वयं वालिका अपराध कहे तब हम वालिको दण्ड दें—यह नीतिका मत है।

वाल्मी० ४।··· में श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे पूछा है कि किस कारण तुम्हारा वैर हुआ, वैरका कारण सुनकर और तुम दोनोंमें कौन निर्बल है यह जाननेके अनन्तर मैं तुम्हें सुखी बनानेका प्रयत्न करूँगा। यथा—'**किं निमित्तमभूद्वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ सुखं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर। आनन्तर्याद्विधास्यामि संप्रधार्य बलाबलम्॥**' (८। ४१-४२)

पं०—'*कृपासिंधु बलसींव*' का भाव यह है कि किसीके आश्रित इनका काम नहीं है वरन् इनके बलके आश्रित औरोंके कार्य होते हैं। इन्होंने मित्रता भी केवल कृपा करके की है और सुग्रीवका काम भी उसपर दया होनेके कारण ही करेंगे। सुग्रीवसे कारण पूछनेमें कृपा ही प्रधान है, पूछा जिसमें वे अपने मुखसे वालिका विरोध कहें और उसको मारनेकी प्रार्थना करें। क्योंकि '*बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काहू।*'

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥ १॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ॥ २॥
अर्ध* राति पुर द्वार पुकारा। बाली रिपुबल सहै न पारा॥ ३॥

अर्थ—हे नाथ! वालि और मैं दोनों भाई हैं। हम दोनोंमें ऐसी प्रीति थी कि वर्णन नहीं की जा सकती॥ १॥ हे प्रभो! मयदानवका पुत्र जिसका नाम मायावी था वह हमारे ग्राममें आया॥ २॥ और, आधी रातके समय नगरके द्वार (फाटक) पर आकर उसने पुकारा (अर्थात् ललकारा)। वालि शत्रुके बलको न सह सकता था॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*बालि अरु मैं*·····' इति। वालिको प्रथम कहकर उसको बड़ा भाई जनाया। यथा—'*नाम राम लछिमन दोउ भाई।*' (४। २। २) '*रामु लषनु दसरथके ढोटा।*' (१। २६९। ७) इत्यादि। (ख) '*प्रीति रही*' का भाव कि पहले थी, अब नहीं है। (ग) '*मय*'—यह दानवों, राक्षसोंका कारीगर है जैसे विश्वकर्मा देवताओंके। यह दानव था। (घ) '*मायावी तेहि नाऊँ।*' '*मायावी*' और '*नाऊँ*' दोनों शब्द देनेमें भाव यह है कि मायावीका अर्थ है—'जो मायासे युक्त हो' इस शब्दके कहनेपर पूछा जा सकता था कि उसका नाम क्या है, 'मायावी' तो केवल विशेषण है? अतएव '*नाऊँ*' पद देकर जनाया कि यह उसका नाम ही है।

टिप्पणी—२ (क) '*आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ*'—'*प्रभु*' श्लिष्ट शब्द देकर जनाया कि वह भी बड़ा समर्थ था जैसे आप समर्थ हैं, इसीसे आगे सामर्थ्यकी परीक्षा हड्डियोंद्वारा ली है। '*गाऊँ*'—अर्थात् किष्किन्धा नगरीमें। गाँव, पुर और नगर यहाँ पर्याय शब्द हैं। आगे इसीको पुर कहा है—'*पुर द्वार पुकारा*' और फिर नगर भी। यथा—'*नगर लोग सब ब्याकुल धावा।*' (११। १) [(ख) '*हमरे गाऊँ*' पहले जब प्रेम था तब दोनोंका यह नगर था। फिर सुग्रीव राजा हुआ तब भी उसका वह नगर था। अतः '*हमरे*' कहा। अथवा अब विश्वास है कि फिर हमें मिलेगा इससे 'हमरे' कहा। (मा० म०)]

* 'अर्द्ध'—(भा० दा०, का०)। 'अर्ध'—(ना० प्र०)।

टिप्पणी—३ *'अर्धराति पुर द्वार पुकारा'* इति। आधीरातमें आनेका कारण यह था कि रातमें राक्षसोंका बल अधिक हो जाता है, उसपर भी आधीरातमें आया जो रात्रिकी तरुणावस्था है, यथा—*'पाइ प्रदोष हरष दसकंधर।'* (६। ९७। ११) *'जातुधान प्रदोष बल पाई। धाए करि दससीस दुहाई॥'* (६।४५।४) इत्यादि। भाव कि पूर्ण बल पाकर आया। पुरके द्वारपर खड़ा होकर पुकारा। क्योंकि भयके मारे भीतर न गया कि कहीं वालि घेरकर पकड़ न ले। द्वारपर ही खड़ा हो गया कि जो निकले उसे मैं मारूँ और यदि वालि बाहर निकला तो भाग जाऊँगा। (पं०) [अर्द्धरात्रिमें ललकारनेका भाव यह है कि मनमें समझता है कि वालिसे जीत न सकूँगा। रातमें जब वह सोता हो तब पुकारकर यह कहता हुआ लौट जाऊँ कि वालि भाग गया। इस तरह मेरी जीत हो जायगी। इसी कारण वालि अर्द्धरात्रिमें उसका पीछा करने चला; नहीं तो भागे हुएको खेदना एवं अर्द्धरात्रिका युद्ध ये दोनों विपरीत (अर्थात् वीरोंके लिये अयोग्य और निषिद्ध) हैं। (शीला) अथवा, वानरको रात्रिमें दिखायी कम देता है; अत: वह पीछा न कर सकेगा, यह समझकर रातमें आया। अथवा, रात्रिमें स्त्रियोंके साथ कामकल्लोलमें प्रवृत्त होगा, उसके भङ्ग होनेसे अवश्य शत्रु समझकर वालि मुझसे लड़ने आवेगा, अतएव अर्द्धरात्रिमें आया। (मा० म०)]

नोट—१ *'रिपु बल सहै न पारा'* इति। यह हिमवान्‌ने दुन्दुभी दैत्यसे कहा है—'**स हि दुर्मर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि।**' (वाल्मी० ४। ११। २३) अर्थात् वालि युद्धमें बड़ा निपुण है, किसीकी ललकार सहता ही नहीं। अ० रा० में भी कहा है कि '**सिंहनादेन महता वाली तु तदमर्षणः। निर्ययौ क्रोधताम्राक्षो जघान दृढमुष्टिना॥**' (४।१।४८) अर्थात् वालि मायावीकी ललकार सह न सका, उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं····। पारना=सकना, यथा—*'सोक बिकल कछु कहै न पारा।'*

नोट—२ *'पुकारा'* शब्दमें सिंहनाद करना, क्रोधपूर्वक गर्जन करना और ललकारना—ये सब भाव आ गये जो अध्यात्म और वाल्मीकीयमें हैं। यथा—'**किष्किन्धां समुपागत्य वालिनं समुपाह्वयत्।**' (४७) '**सिंहनादेन महता वाली तु तदमर्षणः।**' (अध्या० स० १) अर्थात् आकर वालिको लड़नेके लिये ललकारा, घमंडसे सिंहकी तरह गरजने लगा। वालि उसका वह दर्प न देख सकता था। '**नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे**' (वाल्मी० ४।९।५) अर्थात् क्रोधपूर्वक गरजने और युद्धके लिये ललकारने लगा।

१—वालि और सुग्रीव

कहते हैं कि एक बार मेरु पर्वतपर तपस्या करते समय ब्रह्माकी आँखोंसे गिरे हुए आँसुओंसे एक प्रतापी बंदर उत्पन्न हुआ जिसका नाम ऋक्षराजा था। एक बार ऋक्षराजा पानीमें अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा। पानीमें गिरते ही उसने एक सुन्दर स्त्रीका रूप धारण कर लिया। एक बार उस स्त्रीको देखकर इन्द्र और सूर्य मोहित हो गये। इन्द्रने अपना वीर्य उसके मस्तकपर और सूर्यने अपना वीर्य उसके गलेपर डाल दिया। इस प्रकार उस स्त्रीको इन्द्रके वीर्यसे वालि और सूर्यके वीर्यसे सुग्रीव नामक दो बंदर उत्पन्न हुए। इसके कुछ दिनों पीछे उस स्त्रीने फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया। ब्रह्माकी आज्ञासे उसके पुत्र किष्किन्धामें राज्य करने लगे। (वाल्मी० सर्ग ५७, श० सा०)

वालि महाबली था। सुग्रीवने श्रीरामजीसे वाल्मीकीय सर्ग ११ में कहा है कि वालि पश्चिम समुद्रसे पूर्व समुद्रतक और दक्षिण समुद्रसे उत्तर समुद्र तक सूर्योदयके पूर्व ही बिना परिश्रम जाता और लौट आता है। बड़े-बड़े पर्वतोंके शिखर पकड़कर उखाड़कर ऊपर फेंकता है और फिर लोक लेता है। बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ डालता है।

रावण इसे छलसे जीतने आया। वालि उस समय समुद्रमें सन्ध्या तर्पण कर रहा था। उसी दशामें उसने रावणको पकड़कर बगलमें दाब लिया। (छ: मासतक दबाये रखा।) इत्यादि। (हनु० ८। ३९) में अङ्गदने रावणसे कहा है कि वालि तुझे बाँधकर चारों समुद्रोंमें क्षणमात्रमें ही फिरकर सन्ध्यावन्दन करते हुए लौट आया; क्या तू उसे भूल गया। यथा—'**त्वां बद्ध्वा चतुरम्बुराशिषु परिभ्राम्यन्मुहूर्तेन यः सन्ध्यामर्चयति**

स्म निस्त्रप कथं तातस्त्वया विस्मृतः॥' ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्रने जो माला इसे दी थी उसका यह प्रभाव था कि उसको पहनकर जब वालि किसीसे लड़ता तो वालिमें शत्रुका आधा बल खिंच आता था, पर इसका प्रमाण कहीं मिला नहीं है। (वाल्मी० २२) में वालिने सुग्रीवको यह माला देते हुए इतना ही कहा है कि इसमें प्रशस्त विजयलक्ष्मी वर्तमान है, मेरे मरनेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी, अतएव तुम इसे धारण करो। '**इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम्। उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां सम्प्रजह्यान्मृते मयि॥**' (१६) वाल्मी० २२ में लिखा है कि इसने गोलभ नामक गन्धर्वसे १५ वर्षतक बराबर युद्ध किया और अन्तमें उसको मार डाला। ऐसा पराक्रमी था।

२—मयसुत मायावी और दुन्दुभी

मय नामका एक महातेजस्वी मायावी दैत्य था जो दितिका पुत्र था। यह शिल्पविद्यामें परम निपुण था। एक हजार वर्ष घोर तपस्या करके उसने ब्रह्मासे शुक्राचार्यका समस्त धन, शिल्पविद्या और उसकी सामग्री वरमें प्राप्त की। यह हेमा नामकी अप्सरामें आसक्त हो गया था। इन्द्रने इसको वज्रसे मार डाला। (वाल्मी० ५१) इसके दो पुत्र मायावी और दुन्दुभी हुए। वालिने दुन्दुभीको मार डाला था। दुन्दुभीकी कथा वाल्मी० ११ में इस प्रकार दी हुई है—दुन्दुभी नामका एक बड़ा बली असुर था उसके हजार हाथियोंका बल था। वह कैलाशशिखर-सरीखा बड़ा ऊँचा और विशालकाय था। वरदानसे मोहित होकर वह दुष्ट समुद्रसे युद्ध करने गया, समुद्रने उससे कहा कि मैं तुम्हारे युद्धके योग्य नहीं हूँ, तुम हिमवान्‌के पास जाओ जो शङ्करजीके श्वशुर और ऋषियोंके आश्रयदाता हैं। तब वह हिमवान्‌के पास गया। उन्होंने भी अपनी असमर्थता कही और पूछनेपर बताया कि तुम इन्द्रपुत्र वालिके पास जाओ, वह प्रसिद्ध बलवान् है, किसीकी ललकार सह नहीं सकता। दुन्दुभीका भेष भैंसेका-सा था। और उसके सींग बड़े तीक्ष्ण थे। वह किष्किन्धामें आकर गरजने लगा, सींगोंसे नगरके द्वारको तोड़ने लगा। यह सुनकर वालि फाटकपर आया और उससे समझाकर कहा कि अपने प्राण लेकर चले जाओ। इसपर उसको क्रोध आ गया और उसने वालिको बहुत ललकारा जो वाल्मी० में श्लोक ३२ से ३५ तक वर्णित है। वालिने उसकी सींगोंको पकड़कर और उसे खूब घुमाकर पटक दिया। फिर मुक्कों, घुटनों, पैरों, पत्थरों और वृक्षोंद्वारा घोर युद्ध हुआ। वालिने उसे पटककर उसको मर्दन कर डाला। उसके मरनेपर उसके शवको वालिने एक योजनपर वेगसे फेंक दिया। वेगसे फेंके हुए दुन्दुभीके मुखादिसे निकली हुई रुधिरकी बूँदें हवासे मतङ्गजीके आश्रममें जा पड़ीं। जिसे देखकर मुनिने कुपित होकर शाप दे दिया कि जिसने इस शवको फेंककर इस वनके वृक्ष तोड़े और इस आश्रमको रुधिरबिंदुसे अपवित्र किया है वह यदि आश्रमके आस-पास एक योजनतक आयेगा तो उसके सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे। वालिके पक्षवाले जो भी वानर यहाँ देख पड़ेंगे वे पाषाण हो जायँगे।

दुन्दुभीके मारे जानेपर मायावी अपने भाईका बदला वालिसे लेनेके लिये आया। वालिसे मायावीकी स्त्रीके कारण भी वैर हो गया था, इसीसे वह वालिके घातमें रहता था। (वाल्मी० स० ९) सम्भव है कि इसीसे वह गुहामें घुस गया।

धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा॥ ४॥
गिरि बर गुहा पैठ सो जाई। तब बाली मोहि कहा बुझाई॥ ५॥

अर्थ—वालि उसे देखकर दौड़ा और वह वालिको देखकर भागा। मैं भी भाईके संग लगा चला गया॥ ४॥ वह एक बड़े पर्वतकी एक श्रेष्ठ (बड़ी) गुफामें जा घुसा। तब वालिने मुझसे समझाकर कहा॥ ५॥

टिप्पणी—(क) '*धावा बालि*' का भाव कि राजाको विचारकर शत्रुके पास जाना चाहिये, पर वालि बिना विचारे अर्द्धरात्रिको अकेले ही शत्रुके पीछे दौड़ा। इसका कारण पूर्व ही कह दिया है कि '*बाली रिपुबल सहै न पारा*' अर्थात् उसे अपने बलका बड़ा अभिमान है। इसीसे उसने कुछ विचार न किया।

(ख) *'देखि सो भागा'* कहकर सूचित किया कि वालिको देखते ही शत्रुके लड़नेका उत्साह नहीं रह जाता। (ग) *'मैं पुनि'* यह चित्रकूटदेशकी बोली है। दोनों शब्द मिलकर एक ही अर्थका बोध कराते हैं। मैं पुनि=मैं। यथा—*'मैं पुनि करि प्रबान पितु बानी।'* (२।६२।१) *मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।'* (२।५९।१) (घ) *'बंधु सँग लागा'* अर्थात् वालिने मुझसे साथ चलनेको नहीं कहा, 'मैं स्वयं ही भाईके प्रेमसे संग हो गया। यथा—'**ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह**' (वाल्मी० ९। ८) अर्थात् तब मैं भी प्रेमके कारण वालिके साथ निकला। भाईके साथ लगे चले गये यह सुग्रीवकी प्रीति है और वालि स्वयं गुहामें घुसा सुग्रीवको साथ न घुसने दिया, यह वालिका प्रेम छोटे भाईपर दिखाया। पूर्व जो कहा था कि *'प्रीति रही कछु बरनि न जाई'* वह यहाँ चरितार्थ हुआ।

टिप्पणी—२ (क) *'गिरिबर गुहा पैठ सो जाई'* इति। भारी गुहामें यह समझकर जा घुसा कि वालि भयानक गुफा देखकर लौट जायगा। वानर अँधेरे स्थानमें नहीं जाते। (ख) *'कहा बुझाई'* भाव कि यह राक्षस सम्मुख बलसे नहीं लड़ सका, गुफामें घुस गया; इससे जान पड़ता है कि वहाँपर और भी राक्षस हैं, न जाने क्या माया रचें, तब हम दोनों भाई मारे जायँगे। अतएव तुम दरवाजेपर रहो।

नोट—१ मायावीने देखा कि वालि आया और पीछे-पीछे कुछ दूर उसका भाई सुग्रीव भी है; अतएव वह डर कर भागा। यथा—'**स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम्। असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम्॥**' (वाल्मी० ९।९) '**अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः। स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः॥**' (वाल्मी० १०।१५) अर्थात् यह मेरा अत्यन्त दारुण भाई भी साथ था, मेरे साथ एक-दूसरे बली पुरुषको देखकर वह भागा। मयङ्ककार लिखते हैं कि दोनोंको देखकर भागा कि कहीं ऐसा न हो कि दोनों मिलकर मुझे घेर लें, अतः भागा। अथवा, छलसे भागा कि इनको दूर ले जायँ तो वालि निस्सहाय रह जायगा। यह सम्भव है कि इससे भागा हो कि ये पीछा करें तो मैं इन्हें गुहामें ले जाऊँ जहाँ मेरे सब सहायक हैं और रात भी है, वालिको वहाँ सब मिलकर मार लेंगे। यह अनुमान भी ठीक हो सकता है क्योंकि उस गुहामें सत्य ही उसके बहुत साथी मिले। यथा—'**निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः।**' (१०। २०) अर्थात् (वालि कहता है कि) मैंने उस शत्रुको बान्धवोंके सहित शीघ्र मार डाला।

नोट—२ *'कहा बुझाई'* में यह भी भाव है कि ऐसा न हो कि इसके कुछ साथी इधर-उधर बाहर छिपे हों, वे हम दोनोंको गुहामें जाते देख पीछेसे आ घेरें और प्रहार करें; इससे तुम यहाँ सावधान होकर ठहरो जिसमें इधर पीछे से कोई न आने पावे। मैं इसे मारकर आता हूँ। यथा—'**इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः। यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम्॥**' (वाल्मी० ९।१३) पुनः भाव कि उसने यह समझाया कि यह बारम्बार उपद्रव करेगा इससे अब इसे मार डालना ही उचित है। (प्र०) यह भी समझाया कि गुहा तंग है, एक दो दैत्यसे अधिक इसमें सामने नहीं आ सकते, जो-जो सामने आते जायँगे उनको मैं मारता जाऊँगा, अतः तुम मेरी ओरसे निश्शंक रहो।

परिखेसु* मोहि एक पखवारा। नहिं आवौं तब जानेसु† मारा॥६॥
मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर धार तहँ भारी॥७॥

शब्दार्थ—**परिखेसु**=परखना, प्रतीक्षा करना, राह देखना, आसरा देखना। **पखवारा**=पक्ष+वार=१५ दिन। चन्द्रमासका पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध दोनों पक्ष कहलाते हैं। एक कृष्णपक्ष, दूसरा शुक्ल। दोनोंमें १५। १५ दिन होते हैं। पक्षके अपभ्रंश पाख और पखवारा हैं। **मास दिवस**=महीना दिन=३० दिन, यथा—*'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।'* (१।१९५) *'मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच।'* (५।११)

अर्थ—पन्द्रह दिनतक मेरा आसरा देखना। उतने दिनोंमें न आया तो जानना कि वालि मारा गया (तात्पर्य कि तब यहाँसे चले जाना)॥६॥ हे खरारि! मैं वहाँ महीना भर रहा। उस (गुहा) से रुधिर (रक्त, खून) की भारी धार निकली॥७॥

* 'परखेउ' (का०) †'जानेसि'—(का०)।

टिप्पणी—१ *'परिखेसु मोहि एक पखवारा'* इति। वालिने सुग्रीवपर कृपा करके पक्षभर रहनेको कहा जिसमें वह बहुत दिनतक आशामें बैठा न रहे। वीर अपने पराक्रमको समझते हैं, वे अनुमान कर लेते हैं कि कितने दिनमें वे अमुक कार्य कर सकेंगे। यहाँ वालिने यह समझ लिया कि मैं मायावीको पक्षभरमें मार लूँगा, इसीसे सुग्रीवसे उसने पक्ष ही भर ठहरनेको कहा।

टिप्पणी—२ *'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी'* इति। (क) वालिने पक्षभरको कहा, मैं वहाँ दो पक्ष रहा। इससे सुग्रीवकी प्रीति सूचित हुई कि भाईके स्नेहसे, उसकी आज्ञा न होनेपर भी, वह इतने दिन ठहरा रहा।* (ख) *'खरारी'* सम्बोधनका भाव कि आप खरके शत्रु हैं जो दुष्ट था; मेरी कोई दुष्टता नहीं है, सब दुष्टता वालिकी है [पुन: *'खरारी'* का भाव कि आपने खरादिके समरमें देख लिया कि राक्षस कैसे मायावी होते हैं। आपने अपनी मायासे उन्हें जीत लिया, पर हम सब वानर हैं; माया क्या जानें। मायावी पूर्ण मायावी था; इसीसे वालिको उसके मारनेमें मासभरसे अधिक लग गया। (शीला)] (ग) *'रुधिर धार तहँ भारी।'* इति। भारी धार निकलनेका हेतु यह है कि मायावी दैत्यका शरीर भारी था, इसीसे शरीरसे रुधिरकी धार भी भारी निकली।

नोट—१ वाल्मी० ९। १४ से मालूम होता है कि सुग्रीवने भी गुहामें साथ जानेकी प्रार्थना की, पर वालिने अपने चरणोंकी शपथ की इससे वह बाहर ही रहा। यथा—'**मया त्वेतद्वचः श्रुत्वा याचितः स परंतपः। शापयित्वा स मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं ततः॥**' वाल्मी० में वालिने कहा है कि मैंने इससे कहा था कि जबतक मैं मारकर लौटता हूँ तबतक बिलके द्वारपर प्रतीक्षा करो—'**बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम्।**' (४। १०। १८) वाल्मीकीयमें सुग्रीवका एक वर्षतक बिलद्वारपर ठहरना लिखा है। अत: यह प्रसंग वाल्मीकीय कल्पका नहीं है।

अर्धाली ७ से मिलता हुआ श्लोक अध्यात्म० १। ५०-५१ में है—'**इत्युक्त्वाविश्य स गुहां मासमेकं न निर्ययौ॥ मासादूर्ध्वं गुहाद्वारान्निर्गतं रुधिरं बहु।**' अर्थात् यह कहकर कि मैं गुहामें जाता हूँ, वह उस गुहामें घुस गया और एक मासतक न निकला। महीनाभरके उपरान्त होनेपर उसमेंसे बहुत रुधिर निकला। बाहर रुधिर निकलनेका कारण यह था कि मारे जानेपर मायावी पृथ्वीपर गिरकर गरज रहा था, उसके मुँहसे रुधिरकी धार निकली जिससे वह बिल भर गया और जिसके कारण पृथ्वीपर चलना कठिन हो गया। (वाल्मी० १०।२१) वह धार बाहर तक आयी।

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥ ८॥
मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥ ९॥

अर्थ—उसने वालिको मार डाला, और अब आकर मुझे मारेगा (यह समझकर) गुहाके द्वारपर एक शिला लगाकर मैं भागकर चला आया॥ ८॥ मन्त्रियोंने नगरको बिना स्वामी (राजा) का देखकर मुझे जबरदस्ती राज्य दिया॥ ९॥

---

* १—पंजाबीजी यह शंका करके कि 'वालि धर्मात्मा था। पक्षका करार करके मासभर राह देखनेवालेपर कोप क्यों करता? और, राज्य तो जबरदस्ती मन्त्रियोंने दिया था, सुग्रीवका इसमें अपराध न था, तब सुग्रीवको क्यों मारकर निकाल देता?', उसका समाधान यह करते हैं कि 'मास दिवस' से यहाँ १२ दिनका अर्थ होता है क्योंकि मास बारह होते हैं। १५ दिन ठहरनेको कहा; यह तीन दिन पहले चला आया। इसीसे वालिने कोप किया। पर यह अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं है। क्योंकि यहाँ तो सुग्रीव वालिको अपराधी और अपना निरपराध होना दिखा रहे हैं। दूसरे 'मास दिवस' बाल और सुन्दरमें भी ३० दिनके ही अर्थमें आया है, यथा—'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ' 'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥' और 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहिं जिअत नहिं पावा॥' एवं 'मास दिवस बीते मोहिं मारिहि निसिचर पोच'—(सुं० ११)। तीसरे अध्यात्म आदि रामायणोंसे यही पता लगता है कि सुग्रीव वालिकी दी हुई अवधिसे अधिक वहाँ ठहरा था।

२ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि १५ दिनकी अवधि देनेका भाव यह था कि १४ दिनमें चौदहों लोकोंमें जहाँ होगा मैं उसे देखकर मार डालूँगा और पन्द्रहवें दिन लौट आऊँगा।

टिप्पणी—१ *'बालि हतेसि''''।'* सुग्रीव महीनाभर वहाँ रहे तो भी कुछ निश्चय नहीं हुआ कि कौन मारा गया, इसीसे सुग्रीव वहाँसे जा न सके। जब रुधिरकी धार निकली तब निश्चय हुआ कि वालि मारा गया; क्योंकि वालिने पक्षभर परखनेको कहा था और रुधिर महीनेभरमें निकला—(करु०) *'मोहि मारिहि आई'* यह इससे निश्चय किया कि जब वालि ऐसे महाबली वीरको उसने मार डाला तब मैं उसके सामने क्या हूँ।

नोट—१ वालिका मारा जाना कैसे निश्चय हुआ? इस विषयमें वाल्मी०९ में लिखा है कि राक्षसोंके गर्जनका शब्द सुनायी पड़ता था और वालिका शब्द एक भी न सुन पड़ा, बहुत दिन भी बीते और रुधिर निकला—इन लक्षणोंसे अनिष्टकी आशंका हुई। यथा—'**नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः। न रतस्य च संग्रामे क्रोशतो निःस्वनो गुरोः॥ अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्। पिधाय च बिलद्वारं शिलया गिरिमात्रया॥**' (१८-१९) कैसे जाना कि वालि ही मारा गया, इसके सम्बन्धमें ऐसा भी कहा जाता है कि रुधिरके साथ वालिके रोएँ देख पड़े। मयङ्ककारका मत है कि यहाँ सुग्रीवका दोष जान पड़ता है। वह समझ सकता था कि वालिवधपर इतनी बड़ी धार रुधिरकी न निकल सकती थी।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जिस भाँति आजकल भी किसी पहलवानमें दो घण्टेका दम होता है, उस बीचमें उसका मारा जाना कठिन है। दक्ष योद्धा बिना दम टूटे जल्दी मारे नहीं जाते। उन्हें अपने दमका भरोसा रहता है। भगवान् देवकीनन्दन जब स्यमन्तक मणिके लिये गुफामें घुसे, तो लोगोंसे कहते गये कि एक महीनेतक मेरी प्रतीक्षा करना, यदि न आऊँ तो समझना कि मैं मारा गया। जब उतना समय बीतनेपर भी कृष्णजी नहीं आये तो लोग लौट गये, और उनका और्ध्वदैहिक कृत्य भी कर डाला, किसीने उनके जीते रहनेकी शंका न उठायी। इसी भाँति दो पखवारा बीतनेपर भी वालिके बाहर न आनेपर उसके जीते रहनेकी शंका उठाना ही जबरदस्ती है। दम टूटनेके पंद्रह दिन बाद रक्तधार निकलनेका अर्थ ही यही है कि वालि दम टूटनेपर भी पंद्रह दिन लड़ता रहा, बिल्कुल बेदम होनेपर मारा गया। सुग्रीवजीने शिलासे गुफाका द्वार बंद कर दिया कि जिसमें गुफामें बिल्कुल अँधेरा हो जाय और शत्रुको द्वारतक पहुँचनेमें कठिनाई हो। जबतक वह ढूँढ़ता-टटोलता द्वारतक पहुँचेगा, और द्वारको रोकनेवाले पत्थरोंको हटायेगा; तबतक मैं किष्किन्धा पहुँच जाऊँगा। अतः सुग्रीवजीका शिलासे द्वार रोकना उचित था। यदि सुग्रीवजीकी इन बातोंमें कचायी होती, तो सरकार वालिको अपराधी मानकर उसके वधकी प्रतिज्ञा नहीं करते।'

नोट—२ जिस शिलासे द्वार बंद किया गया वह पर्वत-समान बड़ी थी। यह शिला लगानेका भाव यह था कि मायावी इसे हटाकर न निकल सकेगा, भीतर ही मर जायगा। यथा—'**शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता॥ अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।**' (वाल्मी० ४।४६।७-८)

नोट—३ *'मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।''''बरिआईं'* इति। (क) वाल्मी० के सुग्रीवने श्रीरामजीसे कहा है कि मैं मन्त्रियोंसे यथार्थ बात छिपाता रहा पर उन लोगोंने जान लिया—'**गूहमानस्य मे तत्त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम्**' (४।९।२०) और अ० रा० के सुग्रीवने कहा है कि मैंने सबसे कह दिया कि वालि गुफामें राक्षसके हाथसे मारा गया। यथा—'**ततोऽब्रवं मृतो वाली गुहायां रक्षसा हतः।**' (४। १। ५२) मानसमें कुछ न लिखकर दोनोंके मतोंकी रक्षा कर दी गयी। (ख) राज्य राजासे शून्य है, यह देखकर कोई शत्रु आक्रमण न कर दे, ऐसा विचारकर मन्त्रियोंने बलात् मुझे राजा बना दिया। ऐसा ही सुग्रीवने वालिसे वाल्मी० में कहा है। यथा—'**बलादस्मिन् समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः।**' (४। १०। १०) *'बरिआईं'* शब्दसे जनाया कि मेरी इच्छा राज्य ग्रहण करनेकी न थी फिर भी उन्होंने न माना। यथा—'''''**मामनिच्छन्तमप्युत। राज्येऽभिषेचनं चक्रुः सर्वे वानरमन्त्रिणः।**' (अ० रा० ४। १। ५३) इच्छा न होनेका कारण भाईका शोक अथवा अङ्गदके रहते अपनेको अधिकारी न समझना कहा जाता है। अङ्गद अभी छोटा था अतः मन्त्रियोंने इनको राज्य ग्रहण करनेके लिये हठ किया।

बाबा हरीदास—ईश्वर सर्वउर-प्रेरक है। मन्त्रियोंने सुग्रीवको बरिआई राज्य दिया। यद्यपि वालिका पुत्र

अङ्गद राज्याधिकारी था। ऐसा न होता तो क्यों सुग्रीव नगरसे निकाला जाता और क्यों वह वनमें निवास करता?—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।'* रावणमरणमें नर-वानर दोनों कारण हैं— *'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥'* (१। १७७) बिना सुग्रीवके वनवासके श्रीरामजीसे उनसे भेंट और मित्रता कैसे हो सकती थी? श्रीरामजी नगरमें जा नहीं सकते थे और वालि वनमें क्यों आता? दूसरे, वालि अभिमानी प्रकृतिका था, इससे भी यदि वह मिलता भी तो उससे मित्रता कदापि न हो सकती थी। श्रीरामजी तो गरीब-निवाज हैं और सुग्रीव दीन है, इसलिये उससे मित्रता की गयी। फिर वालि रावणका मित्र था—*'मम जनकहि तोहि रही मिताई',* यह अङ्गदने रावणसे कहा है तब वह श्रीरामजीकी सहायता कब कर सकता था। अतः यह सब हरि इच्छासे हुआ।

नोट—४ यहाँतक सुग्रीवने अपनी सफाई कही कि मैं सहायताके लिए संग गया, उसने पक्षभर राह देखनेको कहा, मैं दूने दिन रहा, और मैं राजा होना नहीं चाहता था, मुझे मन्त्रियोंने जबरदस्ती राजा बनाया। अब आगे वालिका अपराध कहते हैं। (पं० रा० कु०)

बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा॥ १०॥
रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥ ११॥
ता के भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मइँ फिरेउँ बिहाला॥ १२॥

अर्थ—वालि उसे मारकर घर आया। मुझे (अभिषिक्त) देखकर जीमें बहुत बुरा माना॥ १०॥ उसने मुझे शत्रुके समान अत्यन्त भारी मार मारी अर्थात् खूब मारा और मेरा सर्वस्व (सब कुछ) और स्त्री हर ली॥ ११॥ हे रघुवीर! हे कृपालु! उसके भयसे मैं समस्त लोकोंमें बेहाल (विह्वल, व्याकुल) फिरा॥ १२॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि मोहि'''*'। देखनेका भाव कि यदि राज्यसिंहासनपर मुझे बैठे न देखते तो जीमें भेद न बढ़ाते। समझते कि इनका कोई दोष नहीं है, हमने १५ दिन रहनेको कहा था, ये १५ दिन रहकर चले आये। (ख) भेद यह बढ़ाया कि इनके जीमें यही था कि वालि मरे तो हम राज्य करें; इसीसे गुहाद्वारपर शिला लगाकर राजगद्दीपर आकर बैठ गये।

नोट—१ *'देखि मोहि'''*' से यह भी सूचित किया कि यदि वह लोगोंसे पूछता तो उसे मालूम हो जाता कि मैंने जो कहा है वह सत्य है। मैं नियुक्त अवधिसे अधिक ठहरा, मुझे जबरदस्ती राज्य दिया गया। पर उसने देखते ही क्रोधमें आकर किसीसे कुछ न पूछा, मुझे मारकर निकाल दिया।

नोट—२ शत्रुके समान मारनेके कई कारण उपस्थित हो गये। वालिने समझा कि यह चाहता था कि मैं मारा जाऊँ तो इसे राज्य मिल जाय। इसीसे पर्वत-सदृश शिला बिल-द्वारपर बंद करके चला आया। इसे चाहिये था कि वहाँ बैठा रहता कि कहीं मायावी ही मारा गया हो और भाई लौटा तो कैसे निकलेगा। निकलनेका मार्ग न पाकर मैं 'सुग्रीव' 'सुग्रीव' चिल्लाता रहा। अनेक बार लातोंसे मारकर तब कहीं पत्थर हटा सका, नहीं तो उसके भीतर मर जाता। स्वयं राजा बननेके लिये ही इसने ऐसा किया है। यथा—'**तत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं मृगयताऽऽत्मनः। सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम्॥**' (वाल्मी० ४। १०। २५) दूसरे, अङ्गद राज्याधिकारी था तब सुग्रीवने क्यों राज्य ग्रहण किया? तीसरे, ताराके साथ सुग्रीव सुखपूर्वक रहने लगा था जैसा कि (वाल्मी० ४। ४६) से पता चलता है—'**राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह। मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः॥**' (९) अर्थात् बड़ा राज्य और ताराको पाकर रुमा तथा मित्रोंके साथ मैं सुखपूर्वक रहने लगा। इत्यादि कारणोंसे शत्रु समझा, अतः जैसा शत्रुके साथ करना चाहिये वैसा किया।

नोट—३ *'हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी'* इति। शत्रुका सर्वस्व हरण किया जाता है, अतः सर्वस्व हरण कर लिया। अथवा, यह सोचकर कि सुग्रीव मेरे सर्वस्व राज्य-धन आदिका मालिक बन बैठा है, उसने सर्वस्व हर लिया। *'अरु नारी'* का भाव कि सुग्रीवने मुझ बड़े भाईकी स्त्रीको मेरे जीतेजी अपनी

स्त्री बना लिया। यथा—'**धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥**' (४। ५५। ३) (यह अङ्गदने हनुमान्‌जीसे कहा है।)—यह समझकर उसने मुझ छोटे भाईकी स्त्री जीतेजी छीन ली।

टिप्पणी—२ (क) '*सर्बसु*' कहकर '*नारी*' को पृथक् कहनेका भाव कि उनको हमारी स्त्रीका हरण करना अत्यन्त अयोग्य था सो भी उन्होंने किया। '*सकल भुवन*', यथा—'**लोकान्सर्वान्परिक्रम्य ऋष्यमूकं समाश्रितः।**' (अध्यात्म १। ५६) अर्थात् समस्त लोकोंकी परिक्रमा करके ऋष्यमूक पर्वतका आश्रय लिया। [यहाँ '*सकल भुवन*' से समस्त पृथ्वीका अर्थ लेना विशेष संगत है। (वाल्मी० ४। १०। २७) से भी यही अर्थ ठीक जान पड़ता है, यथा—'**तद्भयाच्च महीं सर्वां क्रान्तवान्सवनार्णवाम्**' अर्थात् उसके भयसे वनों और पर्वतोंवाली समस्त पृथ्वी मैं घूम आया।] इसका विस्तृत उल्लेख वाल्मी० ४। २६ में है। चारों दिशाओंकी सीमातक वालिने सुग्रीवका पीछा किया। कोई जगह बची नहीं।] (ख) '*रघुबीर कृपाला*' का भाव कि आप कृपालु हैं, अतएव मुझपर कृपा कीजिये। [यथा—'**वालिनश्च भयात्तस्य सर्वलोकभयापह। कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात्॥**' (वाल्मी० १०। ३०) अर्थात् सर्वलोकोंके भयके दूर करनेवाले! वालिके भयसे मेरी रक्षा कीजिये। हे वीर! आप उसे दण्ड देकर मुझपर कृपा करनेके योग्य हैं।]

इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं॥ १३॥

अर्थ—वह यहाँ शापके कारण नहीं आता तो भी मैं मनमें डरता ही रहता हूँ॥ १३॥

टिप्पणी—१ (क) शापवश—मतङ्गऋषिका शाप था कि यदि वालि यहाँ आये तो उसके मस्तकके सौ टुकड़े हो जायँ। यथा—'**मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले। प्रविशेद्यदि वा वाली मूर्धास्य शतधा भवेत्॥**' (वाल्मी० ४। ४६। २२) (ख)—'*तदपि सभीत रहौं*', कारण कि वालि स्वयं यहाँ नहीं आ सकता पर वह दूसरोंको भेजता रहता है; इस प्रकार हमारे विनाशके उपायमें सदा लगा रहता है। यथा—'**यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव। बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया॥**' (वाल्मी० ४। ८। ३४) अर्थात् हे राघव! वह दुष्टात्मा मेरे विनाशके लिये प्रयत्न करता रहता है, उसके भेजे हुए बहुतसे वानरोंको मैंने मार डाला है।

टिप्पणी—२ यहाँतक सुग्रीवने अपने तन, धन और मन तीनोंका दुःख कहा। तनका दुःख—'*रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।*' धनका दुःख—'*हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी*', मनका दुःख—'*इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं''॥*'

टिप्पणी—३ श्रीरामजीने सुग्रीवसे वनमें निवासका कारण पूछा; वह कारण उन्होंने यहाँतक कहा। और, वालिका अपराध भी कहा कि बिना अपराध हमको मारकर पुरसे निकाल दिया, हमारा सर्वस्व और स्त्री हरण कर लिये; तब भी हमारे प्राण नहीं बचते।

नोट—१ ऋष्यमूक पर्वतपर ठहरनेकी राय हनुमान्‌जीने दी थी। वाल्मी० ४६ में सुग्रीवने श्रीरामजीसे कहा है कि जब चारों दिशाओंमें कहीं भी वालिके पीछा करनेसे मुझे शरण नहीं मिली तब बुद्धिमान् हनुमान्‌ने मुझसे कहा कि मुझे इस समय याद आया कि मतङ्गऋषिने वालिको शाप दिया है कि यदि वह इस आश्रमकी भूमिपर आवे तो उसका मस्तक टुकड़े-टुकड़े हो जाय। वहीं हमलोग निरुद्विग्न होकर सुखपूर्वक रह सकेंगे। वालि मतङ्गके भयसे यहाँ नहीं आता। शापका कारण पूर्व (६। १—३) में लिखा जा चुका है।

☞ '*नाथ सयल पर कपिपति रहई*' से '*तदपि सभीत रहौं मन माहीं*' तक '*सुग्रीव मिताई*' का प्रसङ्ग है।

'वालि-प्राण-भंग'-प्रकरण

सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ* भुजा बिसाला॥ १४॥

अर्थ—सेवकका दुःख सुनकर दीनोंपर दया करनेवाले श्रीरघुनाथजीकी दोनों विशाल (घुटनेतक लम्बी) भुजाएँ फड़क उठीं॥ १४॥

* दोउ—(का०), द्वौ—(भा० दा०)।

टिप्पणी—१ (क) *'सेवक दुख'* इति। सुग्रीवने जो कहा था कि *'सब प्रकार करिहौं सेवकाई',* बस इतने ही वचनपर श्रीरामजीने उनको सेवक मान लिया, अतएव यहाँ *'सेवक'* पद दिया (और हनुमान्‌जीने भी पूर्व यही कहा था, *'सो सुग्रीव दास तव अहई।'* (ख) *'दीनदयाला'* पद साभिप्राय है। सुग्रीव दीन हैं। उसपर कृपा करके उसका दुःख हरेंगे। दीनके दुःखको सुनकर दयावीरकी भुजाएँ फड़कती ही हैं।—(यहाँ 'परिकरांकुर अलङ्कार' है। हनुमान्‌जीकी भी यही प्रार्थना है कि *'दीन जानि तेहि अभय करीजे।')*

नोट—दोनों भुजाओंके फड़कनेके विषयमें महानुभावोंके विचार ये हैं—

पं० रामकुमारजी—उत्साहमें वीरोंकी दोनों भुजाएँ फड़कती हैं, वही कारण यहाँ है। यहाँ शकुन या अपशकुनका विचार नहीं है।

मा० म०—सुग्रीवके दुःखको सुनकर उसके अवगुणोंको वात्सल्यवश भूल गये, दोनों भुजाएँ फड़क उठीं। वालिके मारनेसे कुछ अपयश होगा, अतएव बायीं भुजा भी फड़की और दाहिनी भुजाने फड़ककर यह सूचित किया कि सुग्रीवका पालन करेंगे।

पं०—दोनों भुजाओंका फड़कना रणका सूचक है। अथवा तलवारसे मारना होता तो दाहिनी ही भुजा फड़कती (क्योंकि खड्ग एक हाथसे चलाया जाता है), पर वालिवध बाणसे करना है (जिसमें दोनों भुजाओंका काम है) अतएव दोनों भुजाएँ फड़कीं।

करु०—दोनों विशाल भुजाओंका फड़कना कहकर जनाया कि वीररसको प्राप्त हुए।

शीला—बायीं भुजाका फड़कना अपशकुन है। अतः विशाल विशेषण देकर जनाया कि ये भुजाएँ शाल अर्थात् छिद्ररहित हैं। तात्पर्य यह कि इनकी दक्षिण भुजा न फड़के तो भी शुभ ही हो और वाम भुजा फड़के तो भी अशुभ नहीं होनेका।

प्र०—**बिसाल**=विगत-पीर करनेवाली।

[नोट—अन्तिम दो भाव खींचके अर्थ हैं। विशाल विशेषण प्रायः आजानुबाहु होने और आर्तके दुःख हरण एवं उसको आलिङ्गन करनेके प्रसङ्गमें कविने बहुत ठौर प्रयुक्त किया है। कोई महानुभाव ऐसा भी कहते थे कि भुजाओंका प्रेरक इन्द्र है। भुजाओंका फड़कना कहकर जनाया कि इन्द्र भी वालिके अनीतिको देखकर न सह सके और बाहु-फड़कनद्वारा मानो प्रभुसे प्रार्थना कर रहे हैं कि अब आप इसको मारिये।]

दो०—सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहि प्रान॥ ६॥

अर्थ—हे सुग्रीव! सुनो। मैं वालिको एक ही बाणसे मारूँगा। ब्रह्मा और रुद्रकी शरणमें जानेपर भी उसके प्राण न बचेंगे॥ ६॥

☞मिलान कीजिये—*'जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥'* (६। २७। २)

उदाहरण यथा—*'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका। काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥'* (३। २)

वि० त्रि०—*'सुनु सुग्रीव····प्रान'* इति। *'तदपि सभीत रहौं मन माहीं'* इस कथनसे सरकारने वालिको पक्का अपराधी मान लिया। सुग्रीवने सब कुछ कहा पर सरकारने तबतक वालिको अपराधी नहीं माना जबतक कि उसने यह न कहा कि *'इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं॥'* समझा कि क्रोधके वेगमें उसने मारकर निकाल दिया। सुग्रीवकी बहूका कोई अपराध नहीं था, इसलिये उसे नहीं निकाला। परंतु इस घटनाको बहुत दिन हुए, क्रोधके वेगके शान्त होने तथा सुग्रीवके निरपराध होनेके प्रमाण मिलनेका यथेष्ट समय मिल गया। अब जहाँ वह स्वयं नहीं जा सकता वहाँ सुग्रीवके वधके लिये अन्य योद्धाओंको भेजता है, अतः सिद्ध है कि उसका हृदय पापी है, सुग्रीवको मारकर निष्कंटक होकर रुमाको भोगना चाहता है, अतः सरकारने वालिवधकी प्रतिज्ञा कर ली।

सुग्रीवके मुखसे सुना कि वह सकल लोकोंमें बिहाल फिरा पर वालिके भयसे किसीने शरणमें नहीं रखा। अतः सरकार कहते हैं कि एक बाणसे मारूँगा और ब्रह्मा-रुद्रकी शरणमें जानेपर भी वह न बचेगा, जिस भाँति जयन्त नहीं बच सका। प्रतिज्ञाका कारण कहते हैं *'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी'* इत्यादि।

टिप्पणी—१ एक ही बाणसे वालिको मारनेकी प्रतिज्ञाका तात्पर्य यह है कि उसके मारनेमें विलम्ब नहीं करेंगे। मित्रके दुःखसे दुःखी हुए हैं इसीसे मारनेकी प्रतिज्ञा की। यथा—'**मित्रदुःखेन सन्तप्तो रामो राजीवलोचनः॥ हनिष्यामि तव द्वेष्यं शीघ्रं भार्यापहारिणम्। इति प्रतिज्ञामकरोत्सुग्रीवस्य पुरस्तदा॥**' (अ० रा० सर्ग १। ५८-५९) अर्थात् मित्रके दुःखसे राजीवलोचन श्रीरामजी दुःखित हो गये और सुग्रीवके सामने उसी समय प्रतिज्ञा की कि स्त्रीके हरनेवाले तुम्हारे शत्रुको मैं शीघ्र मारूँगा। (नोट—दूसरा कारण वालिवधका यह है कि आर्य संस्कृतिकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये प्रतिज्ञा हुई है, यथा—'**यावत्तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्। तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः॥**' (वाल्मी० १०। ३३) अर्थात् तुम्हारी स्त्रीको अपहरण करनेवाले वालिको जबतक मैं नहीं देखता तबतक वह मर्यादा नष्ट करनेवाला वाली जीवे।)

पं०—प्रभुने उसकी भावी देखकर, अथवा सुग्रीवको अपने बलपर विश्वास दिलानेके लिये वालिको एक ही बाणसे वध करनेकी प्रतिज्ञा की। (प० प० प्र० स्वामीजी इस मतसे सहमत नहीं हैं कि प्रतिज्ञा केवल विश्वास उत्पन्न करनेके लिये की गयी। प्रतिज्ञा रोषसे की गयी है। *'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥'*) यदि कोई कहे कि वालिसे सुग्रीवसे शत्रुता थी, रघुनाथजीसे तो न थी तब ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की? इस संदेहके निवारणार्थ प्रभु नीतिके अनुसार मित्रके लक्षण कहते हैं। सुग्रीव मित्र हैं, इससे उसका दुःख दूर करना अपना परम कर्तव्य है। मित्रका शत्रु अपना शत्रु है।

नोट—१ मुख्य और यथार्थ भाव तो ऊपर दिये गये पर बाबा हरिदासजी और भी भाव लिखते हैं। जो पाद टिप्पणीमें दिये जाते हैं।* ब्रह्मा और शिवकी शरणमें भयभीत होकर देवता और मुनि इत्यादि सभी जाते हैं; इससे उनकी शरण जाना कहा। 'हरि' 'विष्णु' की शरण लेना न कहा, क्योंकि 'हरि' 'विष्णु', 'नारायण' आदि सब रामजीके ही सात्त्विक रूप हैं। यहाँ रुद्र नाम देकर जनाया कि शिवजीके भयङ्कर काल-स्वरूपकी शरणमें भी जानेसे न बचेगा।

श्रीप्रज्ञानानन्दजी इसपर शंका करते हैं कि तब अन्यत्र *'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'* (५। २३। ८) तथा *'राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस।'* (५। ५६) क्यों कहा गया। और उत्तर देते हैं कि प्रस्तुत प्रसंगमें 'विष्णु' का नाम न देकर सूचित करते हैं कि यह दैन्यघाटकी कथा है और इसमें 'विष्णु' अवतारी हैं।

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥ १॥
निज दुख गिरि सम† रज करि जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना॥ २॥

अर्थ—जो मित्रके दुःखसे दुःखी नहीं होते उन्हें देखनेसे भी भारी पाप लगता है॥ १॥ पर्वतके समान अपने भारी दुःखको धूलके समान (साधारण) जाने और मित्रका दुःख रजके समान (तुच्छ, जरा-सा) भी हो तो उसे सुमेरु वा पर्वतके समान जाने॥ २॥

टिप्पणी—१ *'बिलोकत पातक भारी।'* भाव कि जो मित्रके दुःखसे दुःखी नहीं होते वे महापातकी हैं। और महापातकीके संसर्गसे दूसरे भी महापातकी हो जाते हैं। यथा—'**ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं**

---

* यहाँ रामजी सुग्रीवको उभय भाँति अभय देते हैं। एक तो यह कि वालि जीतेजी कुछ न कर सकेगा, मैं एक ही बाणसे उसे गिरा दूँगा। दूसरे, मरनेपर भी न डरो कि प्रेत होकर दुःख देगा, क्योंकि उसको हमारे पार्षद तुरत हमारे धामको ले जायँगे। मार्गमें ब्रह्म और रुद्रलोक पड़ेंगे पर ब्रह्मा और रुद्र भी उन पार्षदोंसे नहीं बचा सकते। प्रेत होना इससे कहा कि अभी सुग्रीवका रामजीमें ईश्वरभाव निश्चित नहीं है।—(पर यह भाव क्लिष्ट कल्पना है।)

† रज सम—(का०)

गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥' अर्थात् ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी और गुरुपत्नीगमन महापातक हैं, इनका संसर्ग भी महापातक है। (याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्यायमें महापातकीके सम्बन्धका श्लोक इस प्रकार है—'**ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्॥**' (२२७) अतः ऐसे महापापीका मुख भी न देखना चाहिये। २—'*निज दुख गिरि सम*''' इति। भाव कि अपने दुःखसे मित्रके दुःखको भारी समझे। यदि आप दुःखी न हों तो मित्रके दुःखसे दुःखी हों और जो स्वयं ही दुःखमें पड़ा हो तो अपने दुःखको रज-समान जाने। तात्पर्य कि जबतक अपने दुःखको रजसम न जानेगा तबतक मित्रका दुःख भारी न जान पड़ेगा और न उस दुःखके छुड़ानेका उपाय हो सकेगा—इसके उदाहरण श्रीरामजी ही हैं। राज्य छूटा, वनवास हुआ, जानकीहरण हुआ—यह दुःख पर्वतके समान है सो इसको रज-समान माना। यथा—'*तियबिरही सुग्रीवसखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।*' (विनय० १६४) और सुग्रीवके दुःखको सुमेरु-सम जानकर जल्दी दूर किया।

जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि* करत मिताई॥३॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ† अवगुनन्हि दुरावा॥४॥

अर्थ—जिनमें ऐसी बुद्धि (कि मित्रके कणमात्र दुःखको बहुत भारी दुःख समझें और उसके दुःखके सामने अपने दुःखको कुछ नहींके बराबर समझें) स्वाभाविक ही नहीं प्राप्त है, वे शठ क्यों हठ करके मित्रता करते हैं॥३॥ मित्रका कर्तव्य है कि मित्रको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गमें चलावे, तथा उसके गुण प्रकट करे, अवगुणोंको छिपावे॥४॥

टिप्पणी—१ (क) '*सहज न आई*' इति। भाव कि ऐसी बुद्धि सुनने और सिखानेसे भी आ जाती है पर वह निरन्तर नहीं रहती और जो स्वाभाविक आती है वह निरन्तर एकरस बनी रहती है। (ख) '*हठि*' का भाव कि वेद, शास्त्र, पुराण मना करते हैं कि ऐसे लोग मित्रता न करें तब भी वे नहीं मानते और मित्रता करके महापातकी बनते हैं।

☞ यहाँतक मित्रताके दोष वर्णन करनेका भाव यह है कि लोग दोष त्यागकर मित्रता करें। आगे मित्र-धर्म कहते हैं।

टिप्पणी—२ '*कुपथ निवारि*''' इति। जब कुपथका निवारण होता है तब मनुष्य सुपंथमें चलता है, इसीसे प्रथम कुपथका निवारण कहा। [पुनः भाव कि मित्रता हो जानेके पीछे यदि मित्रमें दोष जान पड़े तो भी मित्रसे प्रीति न त्याग दे, वरन् उसको लोक-परलोकका भय दिखाकर, उसे कुमार्गसे बचाकर सुमार्गपर लगा दे। (पं०)] भाव यह कि इस प्रकार मित्रका परलोक सुधारे। यह कहकर आगे बताते हैं कि मित्रके साथ कैसा व्यवहार बरतना चाहिये।

देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥५॥
बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥६॥

अर्थ—देने-लेनेमें मनमें शङ्का न रखे अपने बलके अनुमान (अंदाजा, अटकल) से अर्थात् पुरुषार्थभर सदैव हित करे॥५॥ विपत्तिके समय (सुखके समयसे) सौगुना (अत्यन्त) प्रेम करे—वेद और संत कहते हैं कि संत-मित्र अर्थात् अच्छे मित्रके (वा, संत और मित्रके) यही लक्षण हैं॥६॥

टिप्पणी—१ (क) '*देत लेत मन संक न धरई*' अर्थात् अपना और मित्रका धन एक ही जाने। जैसा कि श्रीरामजीने विभीषणजीसे कहा है—'*तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।*' (६।११५) (ख) '*देत लेत*' का भाव कि प्रथम देनेका विचार रखे, पीछे लेनेका, इसीसे प्रथम '*देत*' शब्द कहा। (ग) '*बल अनुमान*' इति। भाव कि बलसे अधिक उपकार कोई नहीं कर सकता पर यदि बलके अनुसार

* हठ—(का०)। † प्रगटै अवगुनहि—(का०)।

न करे, उससे कम करे, तो यह कपट है; अतएव *'बल अनुमान'* पद दिया। [*'बल अनुमान'* इति। महाभारत उद्योगपर्वमें बल पाँच प्रकारका कहा गया है—**'बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे। यत्तद्बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते। धनलाभस्तृतीयं तु बलमाहुर्जिगीषवः॥ यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्। अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम्॥ येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत। यद्बलानामपि बलं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते॥'** अर्थात् पुरुषोंमें पाँच प्रकारका बल कहा गया है। बाहुबल साधारण बल है। सत्-मन्त्रीका बल दूसरा बल है। ऐश्वर्यका बल तीसरा बल है। पिता, पितामहसे बल प्राप्त है वह अभिजात (कौलिक) चौथा बल है। जिससे ये सब बल प्राप्त होते हैं और जो बलका भी बल है वह बुद्धि-बल है। *'बल अनुमान'* कहकर जनाया कि इन पाँचों प्रकारोंके बलसे मित्रका हित करे। इससे यह भी जनाया कि बलसे अधिक सहायता करे तो उसका कहना ही क्या! उसकी परलोकमें प्रशंसा होगी पर अपना जितना बल है उसके लगानेमें कोर-कसर न रखे। बलभर हित करनेमें कसर रखनेसे 'मित्र' पदसे गिर जायगा।]

टिप्पणी—२ ☞ *'कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।'* से *'श्रुति कह'*…… 'तक मित्रके लक्षण कहे, आगे कुमित्रके लक्षण कहते हैं। इन चौपाइयोंकी जोड़का श्लोक भर्तृहरिनीतिशतकमें है। दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है—

भर्तृहरि-शतक	मानस
पापान्निवारयति योजयते हिताय,	*कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।*
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति।	*गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा॥*
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,	*बिपतिकाल कर सतगुन नेहा।*
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥	*श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥*

'योजयते हिताय' (=हितमें लगावे), **'न जहाति ददाति काले'** (=त्याग न करे और समयपर देता रहे) और **'संत'** की ठौर यहाँ क्रमसे 'सुपंथमें चलावे', 'शतगुण नेह करे'; *'श्रुति* और *संत'* ये पद हैं।

नोट—१ 'देते लेते संदेह न करे' में भाव यह है कि यह कभी मनमें न आने पावे कि देख तो लें मित्रने हमें धोखा तो नहीं दिया।

नोट—२ वाल्मी० ४। ८ में सुग्रीवजीने कुछ ऐसा ही श्रीरामजीसे कहा है—**'रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च। अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः॥ आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा। निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः॥ धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ। वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥'** (७—९) अर्थात् मित्र सोने-चाँदीके आभूषण आपसे बँटे हुए नहीं समझते। एक मित्रकी चीजें दूसरे मित्रकी भी होती हैं। धनी हो या दरिद्र, दुःखी हो या सुखी, निर्दोष हो या सदोष, मित्र-ही-मित्रके लिये गति है। इसी कारण मित्रका उत्कट प्रेम देखकर उसके लिये मित्र धनत्याग, सुखत्याग तथा देशत्याग भी करता है।—श्लोक ९ को *'बल अनुमान सदा हित करई'* की व्याख्या समझिये। साहित्यिक दृष्टिकोणसे कह सकते हैं कि इसीको लेकर गोस्वामीजीने यहाँ मित्रके लक्षण श्रीरामद्वारा कहलाये हैं।

नोट—३ *'बिपति कालकर सत गुन नेहा'* कहकर जनाया कि आपत्ति आनेपर ही मित्रकी परीक्षा होती है। यदि दुःखके समय मित्रके साथ विशेष प्रेम न हुआ तो वह मित्र नहीं है। मिलान कीजिये—*'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥'* (३। ५। ७) (श्रीअनुसूयाजी)

नोट—४ 'संत' को दीपदेहली मानकर अर्थ करनेसे भी पूरा मेल हो जाता है। अन्वय यह हुआ—*'श्रुति संत कह संत मित्र गुण एहा।'* (है)

आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥ ७॥
जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई॥ ८॥

अर्थ—जो सामने मुखपर तो कोमल मीठे वचन बनाकर कहे तथा पीछे अहित (अपकार, बुराई, हानि, शत्रुता) करे और मनमें कुटिलता (कपट) रखे॥ ७॥* हे भाई! जिसका चित्त सर्पकी चालके समान टेढ़ा है ऐसे कुमित्रको तो त्यागनेमें ही भलाई है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'बनाई'* से जनाया कि बात झूठी है पर ऐसी बनाकर कहते हैं कि सच्ची-सी लगती है। (ख)—कपटी मित्रके मन, वचन और कर्म तीनोंमें कपट रहता है—*'मन कुटिलाई'* मनका, *'आगे कह मृदु बचन बनाई।'* वचनका और *'पाछे अनहित'* यह कर्मका कपट है। ☞यहाँ कर्मके कपटमें कवि *'पाछे अनहित'* ही लिखते हैं, *'कर'* क्रिया नहीं दी है। इसमें अभिप्राय यह है कि जैसे कुमित्र गुप्त अहित करते हैं वैसे ही कविने भी *'करने'* की क्रिया गुप्त की है।

टिप्पणी—२ (क) प्रथम कुटिलको मित्रता करनेसे मना किया, यथा—*'जाके असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥'* कदाचित् मना करनेसे वह न माने क्योंकि वह शठ है तो ऐसे कुमित्रका आप ही त्याग करे। (ख) *'परिहरेहि भलाई'* अर्थात् उसको न त्याग करोगे तो वह शूलसम पीड़ा देगा, यथा—*'कपटी मित्र सूल सम चारी।'* छोड़नेके अतिरिक्त उसके अहितसे बचनेका अन्य उपाय है ही नहीं।

टिप्पणी—३ ☞कुमित्रके मन, बुद्धि और चित्त तीनों मलिन होते हैं, यथा—*'पाछे अनहित मन कुटिलाई।'* *'जिन्ह के अस मति सहज न आई।'* और *'जाकर चित्त अहि गति सम भाई।'*

नोट—१ *'अहिगत'* इति। सर्प टेढ़ा ही चलता है, सीधा कभी नहीं चलता। कुटिलताका अर्थ भी टेढ़ापन है। मनमें कुटिलता कही, इसीसे अहिगतिकी उपमा दी। कपट रखना ही कुटिलता है।

प० प० प्र०—सर्पकी गति कुटिल होती है पर वह शरीरकी गति होनेसे आसानीसे देखी जाती है। किंतु कपटीका चित्त कुटिल होता है, इससे उसकी गति सहजमें दिखायी नहीं देती। *'चित्त'* की गतिको अहिगतिके समान कहकर जनाया कि वह सर्पसे भी अधिक भयंकर और दुःखद है। पुनः भाव कि जैसे सर्पकी गति नैसर्गिक होनेसे उसका पलटना असम्भव है, वैसे ही कपटी मित्रकी कुटिलता दूसरेके प्रयत्नसे पलट नहीं सकती। अतः कहा कि *'अस कुमित्र परिहरेहि भलाई।'*

सेवक सठ नृप कृपन * कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥ ९॥

अर्थ—शठ सेवक, कृपण (कंजूस) राजा, कुत्सित (बुरी, कर्कशा) स्त्री और कपटी मित्र—ये चारों शूलके समान (पीड़ा देनेवाले) हैं। अर्थात् ऊपरसे हित बने रहते हैं और भीतर पीड़ा देते हैं॥ ९॥

☞ यहाँतक मित्र-धर्म कहकर आगे उस धर्मको पालन करनेको स्वयं उद्यत होते हैं। आचरणद्वारा उपदेश प्रभावशाली होता है।

नोट—१ इस अर्धालीके भाव इन श्लोकोंसे स्पष्ट हो जाते हैं—(क) '**अविधेया भृत्यजनाः शठानि मित्राण्यदायकः स्वामी। अविनयवती च भार्या मस्तकशूलानि चत्वारि॥**' (प्रस्तावरत्नाकर); अर्थात् आज्ञा न माननेवाला सेवक, शठ मित्र, कृपण राजा और कर्कशा स्त्री—ये चारों मस्तकके शूल हैं। पुनः (ख) यथा—'**दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः। ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥**' (चाणक्यनीतिदर्पण) अर्थात् दुष्टा स्त्री, उत्तर देनेवाला सेवक, शठ मित्र और सर्पके घरमें वाससे मृत्यु निश्चय है, इसमें संदेह नहीं।

नोट—२ आज्ञा न मानने वा हठ करने वा स्वामीको उत्तर देनेसे 'शठ' कहा। यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'* (अ० दोहा २६९)

---

* यथा—'परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्। वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥' (चाणक्यनीति) अर्थात् जो परोक्षमें काम बिगाड़े और सामने प्रिय बोले ऐसे मित्रको त्याग दे, वह विषभरा हुआ घड़ा है जिसके मुखपर देखनेमात्रको दूध है।

* कृपिन—(का०), कृपन—(भा० दा०)।

नोट—३ शूल=प्राचीन कालका एक अस्त्र जो प्राय: बरछेके आकारका होता है।=वायुके प्रकोपसे होनेवाला एक प्रकारका बहुत तेज दर्द जो प्राय: पेट, पसली, कलेजे या पेड़ू आदिमें होता है। इस पीड़ामें ऐसा अनुभव होता है कि कोई अंदरसे बहुत नुकीला काँटा या शूल गड़ा रहा है, इसीसे इसे शूल कहते हैं। यहाँ दूसरा अर्थ विशेष संगत है, क्योंकि पीड़ा प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ती है पर प्राणघातिनी होती है, वैसे ही मित्रका कपट गुप्त है पर है प्राणघातक।

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥ १०॥

शब्दार्थ—'**घटब**'=करूँगा। यथा—'*सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।*' (अ० २५८। ५)

अर्थ—हे सखे! मेरे बलपर अब तुम शोच छोड़ो, मैं तुम्हारे काम सब प्रकारसे करूँगा॥ १०॥

नोट—'*सब बिधि*'=नीति आदि रीतिसे। (प्र०) वा, '*सब बिधि*' अर्थात् बल-बुद्धि आदिके व्यवहारसे एवं परमार्थ भी सुधारूँगा अर्थात् लोक-परलोक दोनों बनाऊँगा। (मा० म०, पं०) इससे जनाया कि जो धर्म हमने कहे उन सबको मैं तुम्हारा काम करनेमें निबाहूँगा। जिस प्रकारसे वालिवध होगा और तुम्हारी स्त्री और राज्य मिलेगा वह सब करूँगा। गाली भी सहूँगा।

टिप्पणी—गोस्वामीजीने श्रीरामजी और सुग्रीवजीका मित्रधर्म समान वर्णन किया है।

श्रीरामजी	श्रीसुग्रीवजी
सुनि सेवक दुख दीनदयाला	१ *सुनि सुग्रीव नयन भरि बारी*
सखा सोच त्यागहु बल मोरे	२ *तजहु सोच मन आनहु धीरा*
सब बिधि घटब काज मैं तोरे	३ *सब प्रकार करिहौं सेवकाई*
सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान	४ *जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई*

वि० त्रि०—'*सखा सोच***'तोरे'* इति। मित्रताके पात्र, मित्रके गुण तथा कुमित्रके दोषका वर्णन करके, तब सरकार कहते हैं कि मेरे भुजबलके भरोसे तुम शोकका परित्याग करो, मैं सब विधिसे तुम्हारा काम बनाऊँगा। सुग्रीवजीने तो आश्वासनमात्र दिया था कि '*तजहु सोच मन आनहु धीरा। सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥*' पर सरकार तो सोच मिटानेके लिये सन्नद्ध हो गये, कहते हैं कि किसी अन्य उपकरणकी आवश्यकता नहीं, भुजाबलसे ही तुम्हारा सब कार्य साध देवेंगे और चलनेको तैयार हो गये। पर सुग्रीवके मनमें बात जमी नहीं। उसने समझा कि उन्होंने वालीके बलको बिना जाने ही ऐसी प्रतिज्ञा कर दी। ये इस भाँति वहाँ चलकर अपने प्राण तथा मेरे प्राणको भी संकटमें डाल देवेंगे। तब सुग्रीवने कहा कि वालीके बलको समझ लीजिये कि वह कितना बड़ा पराक्रमी है, अत: '*दुंदुभि अस्थि ताल देखराए।*'

प० प० प्र०—यद्यपि दोनोंमें मित्रलक्षण समान-से मालूम होते हैं तथापि 'सीता-शोध-कार्य सुग्रीव करेगा या नहीं' ऐसा संदेह श्रीरामजीके मनमें नहीं ही है; इसके विपरीत सुग्रीवके मनमें पूरा विश्वास नहीं है कि श्रीरामजीमें वालिवध करनेकी शक्ति है। वह चाहता है कि अपना कार्य पहले किया जाय। श्रीरामजीमें यह आकाङ्क्षा नहीं है।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा॥ ११॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए॥ १२॥

अर्थ—सुग्रीवने कहा—हे रघुवीर! सुनिये, बालि महाबली और अत्यन्त रणधीर है॥ ११॥ तदनन्तर श्रीसुग्रीवजीने श्रीरामजीको दुन्दुभीकी हड्डियाँ और ताड़के वृक्ष दिखाये। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बिना परिश्रम ही ढहा दिये॥ १२॥

टिप्पणी—१ '*महाबल अति रनधीरा*' इति। श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि '*सखा सोच त्यागहु बल मोरें*' उसपर सुग्रीवने यह कहा, जिसका भाव यह है कि आपके बल है और वालिके महाबल है, आप वीर हैं और वह

अति रणधीर है, तब उसे आप कैसे मारेंगे? यह कहकर फिर सुग्रीव वालिका बल दिखाते हैं कि उसने दुन्दुभीको मारकर एक योजनपर फेंक दिया—**'चिक्षेप वेगवान्वाली वेगेनैकेन योजनम्।'** (वाल्मी० ४।११।४७) अब किसीका इतना भी सामर्थ्य नहीं कि उसके अस्थि-पंजरको ही उठा सके। फिर सप्त तालवृक्ष दिखाये कि वालि इनको हिलाकर पत्ररहित कर देता है, यथा—**'एते ताला महासाराः सप्त पश्य रघूत्तम। एकैकं चालयित्वासौ निष्पत्रान्कुरुतेऽञ्जसा॥'** (अ० रा० १।७२) जो इनको एक बाणसे काट डाले वही वालिको मार सकेगा।

नोट—१ अ० रा० में कहा है—**'सुग्रीवोऽप्याह राजेन्द्र वाली बलवतां बली। कथं हनिष्यति भवान्देवैरपि दुरासदम्॥'** (अध्यात्म० १। ६०) अर्थात् सुग्रीव बोले कि हे राजाधिराज! वाली बड़े-बड़े बलवानोंसे भी बली है, देवताओंसे भी उसका जीता जाना कठिन है, तब आप उसे किस प्रकार जीतेंगे? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजीने उससे पूछा कि आपको क्योंकर विश्वास हो सकता है कि श्रीरामजी उसका वध कर सकेंगे? तब सुग्रीवने कहा कि हड्डियोंको एक पैरसे उठाकर दो सौ धनुषकी दूरीपर फेंक दें…तब विश्वास हो! यथा—**'कस्मिन्कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम्॥…हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण। उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुःशते॥'** (स० ११। ६९, ७२) लक्ष्मणजीसे ऐसा कहनेके पश्चात् सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि 'वालि शूर है। शूर होनेका उसे अभिमान है। उसका पराक्रम प्रसिद्ध है। वह युद्धमें कभी पराजित नहीं हुआ। जो कार्य देवताओंको भी दुष्कर है वह भी वह कर डालता है।' यथा—**'शूरश्च शूरमानी च प्रख्यातबलपौरुषः। बलवान्वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः॥' 'दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि॥'** (वाल्मी० ४। ११। ७४-७५) यह सब ***'महाबल अति रनधीरा'*** से जना दिया गया। यही कारण जान पड़ता है कि श्रीरघुनाथजीने उसे अँगूठेसे क्यों फेंका।

अ० रा० में यह कहकर कि बलवानोंमें अग्रणी है; आप उसे कैसे जीतेंगे, सुग्रीव उसके बलका वृत्तान्त सुनाने लगे। गोस्वामीजीने बीचमें कुछ न लिखकर दोनोंके मतोंकी रक्षा की।

टिप्पणी—२ ***'बिनु प्रयास'*** इससे कहा कि श्रीरामजीने दुन्दुभीके अस्थिको चरणके अँगूठेसे ही दस योजन दूर फेंक दिया। सुग्रीवने पहले दुन्दुभीकी हड्डीका ढेर दिखाया पीछे तालवृक्ष, वैसा ही यहाँ आगे-पीछे लिखा गया। भाव यह कि दुन्दुभीके शरीरके अस्थिपंजरके फेंकनेपर सुग्रीवको पूरा विश्वास नहीं हुआ, तब उसने ताल दिखाया।

नोट—२ वाल्मी० स० ११ से स्पष्ट है कि सुग्रीवको दुन्दुभीकी हड्डियोंके फेंकनेपर भी विश्वास न हुआ। क्योंकि सुग्रीवने यह पराक्रम देखकर भी ये अर्थयुक्त वचन कहे कि 'मेरा भाई युद्धमें थक गया था जिस समय उसने दुन्दुभीका शरीर फेंका था और उस समय शरीरमें मांस भी था, वह गीला होनेके कारण भारी था और तत्कालका मारा हुआ था। और आपने जो हड्डियाँ फेंकी हैं वे तृणके समान मांसहीन होनेसे हलकी हो गयी हैं। इससे यह नहीं जाना जा सकता कि आपका बल अधिक है या उसका; क्योंकि गीले और सूखेमें बड़ा अन्तर होता है। यदि आप एक वृक्षको भेद दें तो मुझे विश्वास हो जाय। (श्लोक ८४—९०) अध्यात्म रामायणमें भी यही क्रम है। भेद केवल इतना है कि वाल्मीकीयमें शालवृक्ष कहा है और इसमें सप्त तालवृक्ष कहे गये हैं, वहाँ एकको भेदनेको कहा है और यहाँ सातोंको। यथा—**'राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया॥ तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम्। असुरस्य तनुं शुष्कां पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान्॥ क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत्। ……हरीणामग्रतो वीरमिदं वचनमर्थवत्॥ आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे। परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा॥ लघुः संप्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव।…… नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाधिकम्॥ आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत् सुमहद्राघवान्तरम्॥'** (वाल्मी० सर्ग ११। ८४—८९) पुनः यथा—**'दृष्ट्वा रामः स्मितं कृत्वा पादाङ्गुष्ठेन चाक्षिपत्।'……यदि त्वमेकबाणेन विद्ध्वा छिद्रं करोषि चेत्। हतस्त्वया तदा वाली विश्वासो मे प्रजायते।'** (अध्यात्म० १। ७०, ७३)

नोट—३ जो भाव अध्यात्मके 'स्मित' (मुसुकराते हुए) और वाल्मीकिके 'लीलया' (खेल सरीखे)